एकाङ्की-कला

●

प्रो० रामयतन सिंह 'भ्रमर', एम० ए०, साहित्यरत्न
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, रामनारायण रुइया कालेज,
माटुंगा, बम्बई १६

किताब महल
इलाहाबाद

अपनी बात

'सगुन छीर अवगुण जल ताता, मिलइ रचइ परपंच विधाता' के अनुसार मेरे इस लघु प्रयास में 'छीर' भी होगा और 'नीर' भी। नीर की मात्रा अधिक है कि 'छीर' की, यह तो विवेकवान आलोचक ही बता सकेंगे। पुस्तक के चौथे अध्याय में 'पुनरुक्ति दोष' की किरकिरी सम्भवत: आलोचकों की नजरों में गड़े किन्तु मेरा निवेदन है कि विषय को स्पष्ट करने के निमित्त ही मैंने उस तथा-कथित दोष का आलिंगन किया है।

१ जून, १९५२
१३, मेमन चैम्बर
मोरबाग रोड
दादर, बम्बई

रामयतन सिंह 'भ्रमर'

विषय-सूची

साहित्य में प्रगतिशीलता और जीवन

अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् के सत् समन्वय से ही साहित्य की सृष्टि होती है। जिस मनुष्य का अन्तर जितना ही सजग, जितना ही क्रिया-शील और जितना ही स्पन्दनशील होता है वह उतनी ही मात्रा में बाह्य जगत को आत्मसात करके असुन्दर को सुन्दर तथा अमङ्गल को मङ्गल स्वरूप देकर अमर साहित्य की रचना करने में समर्थ होता है। यह कुरूप जगत, काम, क्रोध, मद, लोभ से विकृत मानव, अपनी ही बोझिल परिस्थितियों से म्रियमाण व्यक्ति तथा उनकी बनाई हुई सभ्यता सत् साहित्य के अभाव में कभी की नष्ट हो गई होती—साहित्य ने ही उसे सुधा-पान कराके बचा लिया है।

साहित्य और जीवन का घनिष्ठ संबंध है। साहित्य यदि दाल है तो जीवन नमक। दाल अलोनी भी हो सकती है, परन्तु बेस्वाद। रविबाबू का कहना है कि साहित्य-सृष्टि निखिल सृष्टि का एक भाग है। साहित्य-कार अपनी रचना में वास्तविकता का चित्रण करता है। साहित्य का आधार कल्पना सत्य है और एक मात्र सत्य है। यदि किसी साहित्य का आधार सत्य न हो, वास्तविकता न हो तो उसमें जीवन की अनुभूति उत्पन्न ही नहीं हो सकती। वास्तविक जीवन, वास्तविक जगत में जैसी कारण-कार्य-परम्परा है वैसी ही साहित्य-जगत में भी है। साहित्य का यह एक फेफड़ा है। इसका दूसरा फेफड़ा भी है। प्राचीन आलोचक और साहित्याचार्यगण कहते हैं कि कवि निरंकुश है*, स्वच्छन्द है, सर्वथा

---

* निरंकुशाः कवयः

मुक्त है। बंधन उसे अखरता है, नियम की हथकड़ियों को तोड़ने में ही उसे मजा आता है। उसकी रचना और उसके द्वारा बनाई हुई दुनिया अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखती है। वह* अपनी बनाई हुई दुनिया का स्वयं प्रजापति है।

आचार्य मम्मट ने कवि की वाणी की स्तुति करते हुये लिखा है कि उसमें विधाता की सृष्टि के समान किसी प्रकार के नियमों का बंधन नहीं है।† साहित्य दर्पण के लेखक श्री विश्वनाथ ने भी काव्य के विभाव, अनुभाव और संचारी भाव इत्यादि को अलौकिक की संज्ञा दी है। उनके अलौकिक‡ का तात्पर्य यह है कि काव्य के विभाव आदि का लोक से अर्थात् वास्तविक जगत से कोई विशेष संबंध नहीं होता। साहित्य की इसी अलौकिकता के कारण हमें उसमें आनंद की प्राप्ति होती है। यहाँ तक कि इसी अलौकिकता के कारण ही काव्य में वर्णित दुःख, शोक, करुणा, भय इत्यादि से भी आनन्द की निर्झरणी बहती है। यदि उनका आधार लौकिक होता तो संभवतः साहित्य में वर्णित दुःख से हमें आनन्द न मिलता बल्कि उससे वैसा ही दुःख अनुभव होता जिस प्रकार हम वास्तविक जगत के दुःख से घायल हो उठते हैं।

मेरी समझ में साहित्यकार की यह 'अलौकिकता' उसे गगन-विहारी बनाकर क्षण मात्र के लिये जादूगर की भाँति संसार को चाहे भ्रम में उलझा कर उसके मुँह से वाह! वाह! निकलवा ले, किन्तु

---

* अपारे काव्य संसारे कविरेव प्रजापतिः......

† नियतिकृत नियमरहिताम्......

‡ हेतुत्वं शोकहर्षादेर्गतेभ्यो लोक संश्रयात्।
शोक हर्षादयो लोके जायन्तां नाम लौकिकाः।
अलौकिकं विभावत्वं प्राप्तेभ्यः काव्य संश्रयात्।
सुखं संजायते तेभ्यः सर्वेभ्योऽपीति का क्षतिः॥

उसकी यह वाह ! वाह ! खरगोश की सींग की तरह सर्वथा बेतुकी और अस्तित्वहीन होगी। कबूतर की भाँति साहित्यकार के भी कल्पना के पंख गगन-विहार करते-करते जब थक जायँगे, उस समय यदि वास्तविक जगत की सत्य की टहनी का सहारा उसे न मिलेगा तो उसका साहित्य थके हुये कबूतर की तरह सदा के लिये प्राण छोड़ देगा और मरने के बाद साहित्यकार की नितांत अलौकिक कल्पनाएँ और कबूतर के पंख निर्जीव होकर धरती पर ठोकरों से मर्दित हो नष्ट-भ्रष्ट हो जायँगे। साहित्यकार यदि सर्वदा गूलर के फूल और पारिजात पुष्प से ही खिलवाड़ करेगा तो नीम, महुआ और जंगली फूलों का पराग लेने वाला ठोस जगत का प्राणी उसे अजायबघर का जंतु समझ अथवा इन्द्र या कुबेर जैसे अलौकिक प्राणी समझ कर उससे अपना संबंध विच्छेद कर लेगा।

सत्य का दामन पकड़ कर चलने वाली कल्पना मानव अनुभूतियों में सिहरन पैदा करके बहुमुखी बना देती है। केवल कल्पना के सहारे रचा गया साहित्य प्रतिक्रियावादी, पूँजीवादी तथा स्त्रैण कहलावेगा और केवल सत्य पर आधारित साहित्य—साहित्य न बनकर इतिहास की पोथो बन जायगा; चाहे वह इतिहास जीवित मानव का हो या मृत। अतः वही साहित्य मानव-जीवन में रस घोल सकता है जिसमें कल्पना और यथार्थ का पूर्ण सामञ्जस्य हो। दोनों दूध और पानी की तरह मिले हों। साहित्यकार अपूर्ण को पूर्ण और नश्वर को अनश्वर बना देता है। "जगत के ऊपर मन का कारखाना स्थापित है और मन के ऊपर विश्व-मत का कारखाना—इसी की मंजिल से साहित्य की उत्पत्ति होती है।"*

मैथ्युआर्नल्ड ने साहित्य को जीवन की व्याख्या कहा है। किन्तु साहित्य का जीवन संसार के जीवन का प्रतिरूप नहीं है। इसे यों भी

---

* साहित्य—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

कहा जा सकता है कि साहित्य जीवन का छाया चित्र है जो जीवन से अधिक सुघड़, सुडौल और बेदाग प्रतीत होता है। अतः जीवन अपने मूल रूप में साहित्य में नहीं समाया हुआ है बल्कि जीवन का प्रभाव साहित्य को अनुप्राणित करता है।

मूल रूप में मनुष्य के हृदय में दो भाव विद्यमान रहते हैं—सुख और दुःख। सुख को राग और दुःख को द्वेष कहते हैं। मनुष्य या तो सुख का अनुभव करता है या तो दुःख का। इन्हीं दो मूल तत्वों से हृद्-गत नाना प्रकार के सुप्त भाव जाग्रत होते हैं जिन पर साहित्य शास्त्र की रस पद्धति टिकी हुई है।* जीवन के घात प्रतिघात, उत्थान और पतन, पाप और पुण्य से ही साहित्य का निर्माण होता है। अब प्र उठता है, जीवन क्या है? दार्शनिकों ने जीवन को क्षणभंगुर बताक चिरतन आत्मा को परमात्मा से मिलने का पाठ पढ़ाया था। किन्तु इसकी सत्यता और असत्यता पर विवाद करना मेरा विषय नहीं है। हमें तो यह देखना है कि जीवन क्या है? जीवन में सुख-दुःख, विरह मिलन, राग द्वेष, पाप पुण्य, पूर्णता अपूर्णता, संतोष और हानि लाभ आदि जीवन के द्वन्द्वात्मक तत्व अपना नृत्य दिखाते हैं।

एक शब्द में, जीवन अपूर्ण है। उसमें पूर्णता लाने का प्रयत्न मानव आदि काल से करता आ रहा है। साहित्य में इन सब द्वन्द्वों का समावेश तो रहता ही है। साथ ही साथ जीवन की कुरूपता, जीवन के अभाव और जीवन के असंतोष को साहित्यकार कल्पना के सहारे दुल-राता है, और उसमें ही पूर्णता का अनुभव करता है। इस प्रकार मानव-जीवन को अभिव्यक्त करने के लिये साहित्य का सहारा लिया जाता है। साहित्य जीवन से बहुत कुछ लेता है, और उसके बहुतेरे पोषक तत्व जीवन से ही मिलते हैं और बदले में वह जीवन को भी बहुत कुछ दे

---

* जीवन और काव्य

है। वह यथार्थ जीवन की कडुआहट दूर करने के लिये सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् की कल्पना करता है—इसलिये साहित्य जीवन को सरस और प्राणवान बनाने में रोटी दाल से कहीं अधिक योग देता है।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है—इसलिये मानव-जीवन का समाज से अभिन्न सम्बन्ध है। यद्यपि व्यक्ति से ही समाज बनता है, फिर भी व्यक्ति से समाज बड़ा है। समाज की उन्नति में ही व्यक्ति की उन्नति है। परिणाम स्वरूप मनुष्य अपने समाज की सीमा रेखा से बँधा होने के कारण देशकाल की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा धार्मिक हलचलों से अत्यधिक प्रभावित होता है। मनुष्य में क्रोध, क्षमा, दया, उत्साह, सहानुभूति, अनुराग, इत्यादि मनोविकार नैसर्गिक रूप में समाये हुये हैं—किन्तु इनका प्रयोग समाज में ही किया जा सकता है क्योंकि समाज ही इनको खुराक देता है। गुण और अवगुण की कल्पना समाज से पृथक् होकर कोई भी मनुष्य नहीं कर सकता। इसलिये साहित्य जीवन से बँधने पर समाज से अपने आप बँध जाता है।

साहित्य और जीवन का पाणिग्रहण फ्रांस की राज्य क्रान्ति के उपरांत माना जाता है। जीवन को पूर्ण रूपेण विकसित करने की शक्ति कला में ही निहित है। साहित्य भी एक कला है। आधुनिक युग में कला अनेकार्थी बन गई है :

१. कला के लिये कला है।

२. कला जीवन के लिये है।

३. जीवन की वास्तविकता से भगने का नाम कला है।

४. नीरस व्यवहारों से छूटकर जीवन के आनन्द में आश्रय पाने का ही नाम कला है।

५. कला सेवा के लिये है।

६. कला का उद्देश्य आत्मप्राप्ति है।

७. कुछ लोग कला का प्रयोजन आनन्द में ही मानते हैं।

८. कुछ का विचार है कि कला सृजन की अदम्य प्रवृत्तियों के समाधान में ही प्रयुक्त होती है।

९. कुछ लोग कला को विनोद का साधन मानते हैं।*

किन्तु आधुनिक युग में जीवन और कला का अभिन्न सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। कुछ भी हो, कला के उपर्युक्त नौ प्रयोजनों में प्रथम प्रयोजन—अर्थात् 'कला कला के लिये' वाले सिद्धान्त को चाहे आज खोटा सिक्का करार दे दिया जाय किन्तु शेष आठों प्रयोजन तो कला के उदर में समाये हुए हैं। जीवन के लिए कला का प्रयोजन मानने का तात्पर्य यह नहीं कि साहित्य जीवन की आत्मकथा है; वह भी एक व्यक्ति की आत्मकथा नहीं—बल्कि विश्व के अणु परमाणु तक की कथा है।

प्रगतिशील साहित्य और उसका माप दण्ड—मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के संकीर्ण चौखटे में साहित्य के सुकुमार शरीर को कसकर उसका कचूमर निकाला जा रहा है। अगली पंक्तियों में हम इसकी विवेचना करके प्रगतिवाद के नाम पर साहित्य में संकीर्णतावाद, अवसरवाद तथा प्रयोगवाद आदि का जो कुहासा छाया हुआ है, उसका निराकरण करने का प्रयत्न करेंगे।

प्रगतिशील साहित्य के विरुद्ध लगाये गये कुछ आरोपों का उल्लेख नीचे किया जाता है :

१. यह रोटी, कपड़ा, किसान, मजदूर तथा झोपड़ी इत्यादि विषयों तक ही सीमित है, अतः संकीर्ण है।

---

*1. Art for art sake. 2. Art for life sake. 3. Art as an escape. 4. Art as an escape into life. 5. Art for service's sake. 6. Art for self realisation. 7. Art for joy. 8. Art as creative necessity. 9. Art as recreation.

२. यह मार्क्सवादी सिद्धान्तों का साहित्यिक प्रोपेगेन्डा है, जिसका क्षेत्र विदेशी होने के कारण भारतीय भावना को चोट पहुँचाता है।

३. यह ईश्वर में अविश्वास करता हुआ नैतिकता को ढकोसला मानता है।

४. यौन-भावना का अश्लील रूप चित्रित करता है, अतः चवन्नी टाइप का है।

५. आध्यात्मिक सुखों की अपेक्षा भौतिक सुखों में विश्वास करता है अतः निकृष्ट और अस्थायी है।

६. साहित्य के शाश्वत तत्वों की उपेक्षा करके युग-धर्म से ही चिपटा रहता है अतः सामयिक है।

७. झोपड़ी और मजदूरों में उलझ कर प्रेम-भावना का तिरस्कार करता है, अतः क्षणिक है।

८. शांति में नहीं संघर्ष में विश्वास करता है, अहिंसा नहीं हिंसा में आस्था रखता है, निर्माण के बदले उन्मूलन में अधिक रुचि रखता है अतः हानिकारक है।

९. अतीत की संस्कृति को बुर्जुआ कह कर वर्तमान से मोह करता है अतः बिना नींव की इमारत है जिसके गिरने में समय न लगेगा।

१०. भावुकता तथा कला इत्यादि का विद्रोह करके केवल चाँदी के टुकड़ों से साहित्य का मूल्याङ्कन करता है, अतः अकल्याणकारी है।

उपर्युक्त आक्षेप आधारहीन नहीं हैं। आज हिन्दी साहित्य में साहित्य और जीवन का अटूट सम्बन्ध बताकर कुछ असाहित्यिक पेशेवर प्रोपेगेंडिस्ट साहित्य को राजनीतिक प्रचार के जिस निम्न स्तर पर लिये जा रहे हैं, उसका प्रभाव बड़ा ही भयावह और घातक होगा।

साहित्य मूलतः भाषा के माध्यम द्वारा जीवन की अभिव्यक्ति है।*

---

*It is fundamentally an expression of life through the medium of language.–Henery Hudson

तात्पर्य यह कि मनुष्य-जीवन के सुख-दुःख, आशा-निराशा इत्यादि की अभिव्यक्ति साहित्य में होती है। इस प्रकार मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन साहित्य में उतर आता है। किन्तु आज हम कुछ और ही देख रहे हैं। व्यक्ति मिट रहा है, समाज पिस रहा है। आर्थिक शोषण से मानवता काँप रही है। मनुष्यता का खून चूसकर राजनीतिक बलात्कार हो रहा है। ऐसी परिस्थितियों में चारों ओर से रोटी रोटी की माँग आ रही है। हमारा साहित्य भी उससे अछूता नहीं बचा है। उसमें भी सड़े बाजरे और बदबूदार चावल की दुर्गन्ध आने लगी है।

सच्ची कला तो सदैव अपरिवर्तनशील होती है क्योंकि जिन भावनाओं और विचारों का सृजन उससे होता है वे समय और देश काल से बँधे नहीं होते।* हमारे भारतीय साहित्याचार्यों ने साहित्य को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का साधन माना था। किन्तु आज अर्थ को ही साहित्य-देवता मानकर उसकी पूजा हो रही है। यद्यपि मानव जीवन अर्थ-विहीन होने पर दुःखमय हो जाता है, फिर भी जीवन में धन की बहुलता होने तथा आर्थिक विषमता हटने पर ही मनुष्य पूर्ण सुखी होगा—यह भी एक भयानक भ्रम है। इसी भ्रम का पोषण करने के लिये प्रगतिवादी आलोचक साहित्य को राजनीतिक नारेबाजी का लिवास पहनाकर, उसके गले में ग्रो मोर फुड (अधिक अन्न उपजाओ) की फूटी ढोलक, मजदूरों के स्ट्राइक का विकृत स्वर वाला भोंपू, पूँजीपतियों की तोंदियल लाश, तथा अमेरिका का एटम बम बाँध कर पैर में बँधे संहारात्मक धातु के बने घुँघरू के सहारे जो कास्मोपालिटन नृत्य करा रहे हैं, उस नृत्य में न तो

* Great art remains stable and unobscure, because the feelings that it awakens are independent of time and place for its kingdom is not of this world.—Clive Bell

स्वर है न ताल। फिर भी ये राजनीतिक अखाड़ची साहित्य की हड्डी पसली तोड़कर उसकी भस्म मास्को भेज रहे हैं जहाँ वे समझते हैं कि स्टालिन उसे अपने मस्तक पर चढ़ाकर कृतकृत्य हो जायगा।

कविता, उपन्यास, कहानी, नाटक न तो राजनीतिक पैम्फलेट हैं न एलेक्शन मेनीफेस्टो ही। हाँ—तत्कालीन सामाजिक और राजनैतिक विप्लवों का प्रभाव साहित्य पर पड़ता अवश्य है, बिना युग प्रभाव के साहित्य जादू का खेल हो जायगा। किन्तु केवल राजनीतिक दाँव-पेंच का प्रदर्शन साहित्य को उसके उच्चादर्श से मिटा कर रसातल भेज देता है। कलाकार का क्षेत्र राजनीतिज्ञ के क्षेत्र से अधिक व्यापक और अधिक कल्याणकारी होता है।

सोवियट रूस के शिक्षा मंत्री, लेनिन के सहकारी लुनारस्की का कथन है 'कि यह बड़ी कुत्सित और तथ्यहीन बात है कि हम महान् कलाकारों को इस बात के लिये बाध्य कर दें कि वे अपने को स्वतंत्र कलाकार न समझकर सरकारी लेखक समझें और उनकी कलम अपनी अनुभूति द्वारा न संचालित होकर किसी बाह्य आदेशों का पालन करे, चाहे वह आदेश किसी क्रान्तिकारी का ही क्यों न हो।"* इन राजनीतिक तानाशाहियों का विरोध रूस में गोर्की ने और फ्रांस में रोमारोलाँ ने किया। रोमारोलाँ ने अपने साहित्य को दलबंदियों और 'वादों' के संकीर्ण कटघर से बाहर निकालकर उन्मुक्त वातावरण में उसकी दूकान लगाई। वह अपने युग का, अपने देश का सबसे बड़ा प्रगतिशील साहित्यिक था। उसका कथन है कि "मैं तुम्हारी तरह नहीं सोचता, किन्तु तुम्हें क्या अधिकार है कि यह आदेश जारी कर दो कि जो तुम्हारे विचारों से अक्षरशः सहमत न हो, वह क्रान्ति के बाहर है, अतः प्रतिक्रियावादी है। क्रांति या प्रगति किसी पार्टी या दलबंदी की पैतृक सम्पत्ति नहीं है। वह

---

* इस्कुस्त्वो कम्यूनी १९१८

एक महान् वट वृक्ष की भाँति अपनी बाहें फैलाकर अपने सब सिपाहियों को छाया और शीतलता देती हुई मानवता का पाठ पढ़ाती है। किन्तु मैं पराधीनता की गंदी कोठरी में रहना पसंद नहीं करता जहाँ कम्यूनिस्ट और बुर्जुआ दोनों अपने अपने ढोल कलाकार के गले में बाँधने के लिये तैयार हैं। यदि मेरी साँस घुटेगी तो मैं अपनी खिड़की के शीशे चूर-चूर कर दूँगा। हम लोगों का यह दावा है कि हम क्रांति और प्रगति के साथ कदम व कदम चलेंगे लेकिन आजाद मानव बनकर।"

अब भारतीय प्रगतिवादी कवि शंकर शैलेन्द्र की एक कविता की चाशनी लीजिये और देखिये वे राजनीतिक दलबंदियों से कितने ऊपर उठे हैं! स्टालिन और माओ के अन्धविश्वासी (यद्यपि स्वयं स्टालिन और माओ इतने संकुचित विचार के नहीं हैं) चाहे इसे रवीन्द्र की गीतांजलि से अच्छा समझें, पुश्किन की कविता इसके आगे चाहे शब्दाडम्बर हो, वर्ड्स्वर्थ की कविता चाहे इसके आगे क्षय रोग के कीटाणुओं का पुंज हो, पर मुझे तो यह निम्नकोटि की नारेबाजी लगती है :

......एक तूफान है।
और हमारे डाँगे मिरजकर,
मजदूर वर्ग के तपे हुये लीडर,
काँग्रेसी जेल के अन्दर भी लड़ते हैं।
मजदूर वर्ग की आन पर पड़ते हैं।
एक हफ़्ते से हमारे ढाई सौ साथी
भूख हड़ताल पर हैं।
उनकी माँग है—
राजबंदियों में वर्ग भेद रद्द हो।
उचित भत्ता मिले परिवार को।
पढ़ने लिखने की सुविधा हो।
और उनके साथ इन्सानों जैसा सलूक हो।

जान खतरे में है इन लीडरों की।
लेकिन ये मुरार जी—
डी० वी० कुलकर्णी का हत्यारा,
हत्यारा मानी जेठी का, पाटील की बेटी का
ऐंठा है आज भी
कहता है—मर जाय डाँगे,
मैं नहीं हिलने का।

इसे कविता कहें तो गद्य किसे कहेंगे ? गाली किसे कहेंगे ? इन पंक्तियों में कलात्मक पहलू तो है ही नहीं, 'वस्तु' भी नहीं है जिस पर लेखक गर्व करता है। (?) साहित्यकार न तो अखबार का रिपोर्टर है, न सम्पादक और न तो पेटेन्ट दवाइयों का विज्ञापनदाता है। वह क्षणिक वर्तमान में ही नहीं उलझता। यदि उलझता भी है तो उसका सामयिक साहित्य इतना सबल होता है कि युगों तक जीवित रहता है। वह अक्षय-वट है, जिसकी जड़ें अतीत की गहराई से अपनी खूराक लेती हैं—वर्तमान उसका तना है, भविष्य उसकी शाखायें और प्रशाखायें है। जड़ और शाखाओं के कटने पर साहित्य का अयक्षवट वृक्ष एक ठूँठ की तरह हो जायगा जिसे सूखने में देर न लगेगी।

वर्तमान युग की आर्थिक कठिनाइयों में मध्यम वर्ग जितना पिस रहा है उतना मजदूर और किसान वर्ग नहीं। फिर प्रगतिवादी साहित्य में मजदूरों और किसानों का ही क्यों बोलबाला है ? यदि प्रगतिवादी लेखक बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय लिखता है तो मध्यम वर्ग क्यों उससे अछूता रहे ? मध्यम वर्ग ही क्यों ? बुर्जुआ वर्ग के सुख-दुःख के चित्रण में कलाकर अपनी लेखनी क्यों कुंठित कर ले ? जिस समानता का सपना प्रगतिशील लेखक देखता है उस समानता की परिधि को और चौड़ा करना पड़ेगा जहाँ सर्वजन हिताय, सर्वजन सुखाय का मंत्र पाठ सदैव चलता रहे।

"Land to the peasant, bread to the starving and peace to all men" (किसानों को जमीन, भूखों को रोटी और सब मनुष्यों को शांति दो) का स्लोगन यदि साहित्यकार लगाने लगेगा तो मैं समझता हूँ कि भारत का बच्चा-बच्चा साहित्यिक होगा। आँखों के काजल, माथे की बिन्दी, कंकण की किंकिण और नूपुर की कल ध्वनि और छूम छनन, विरह के ऊष्ण श्वास और मिलन के कलहास्य की आवश्यकता अब प्रो० जगन्नाथ प्रसाद मिश्र के ख्याल से साहित्य में नहीं पड़ेगी। अब तो हँसिया हथौड़ा और लाल झंडा ही काफी है। इसी में प्रगतिशील लेखकों का विश्व समाया हुआ है, वे उसके बाहर झाँकना गुनाह समझते हैं। ऐसे संकुचित मनोवृत्ति के अवसरवादी प्रगतिशील (?) कलाकारों के लिये श्री शिवदान सिंह चौहान लिखते हैं कि "राहुल सांकृत्यायन, पंत, अज्ञेय, दिनकर, हजारी प्रसाद द्विवेदी, रामवृक्ष बेनीपुरी, शिवदान सिंह चौहान आदि-आदि के नाम गिन-गिना कर इन जनद्रोही मुजरिमों के गलों में तख्तियाँ लटकाई हैं: जिनमें से किसी पर लिखा है टाटा बिड़ला का एजेन्ट, किसी पर पूँजीपतियों का दलाल, किसी पर ईमान फरामोश .....साहित्य की परम्परा के प्रति अपनी अपार श्रद्धा का प्रदर्शन करने के लिये एक साथी इस बीच महमूद गजनवी और काश्मीर के सिकन्दर बुतशिकन की धर्मान्धता को भी मात देने वाले दर्प और दम्भ से चूर होकर साहित्य-मंदिर की तमाम प्रतिष्ठित, सजीव प्रतिमाओं में से किसी को लतियाते, किसी को घतियाते......बस अपनी पहलवानी गदा घुमाते फिर रहे हैं। बड़ी-बड़ी मूर्तियाँ खंड-खंड कर दी हैं; जो बची हैं उनमें से कुछ मुँह छिपा कर औंधी पड़ी हैं, कुछ आत्म-हत्या करने वाली हैं, कुछ अपनी पुस्तकें पेट से बाँध कर समुद्र में छलांग लगाने का मौका तलाश कर रही हैं। पर यह मार्क्सवाद नहीं, विशुद्ध फ़ाश्ती-भावना का अंकुरित रूप है।"*

* नई चेतना

"जब काहू कर बल पावा तब सुग्रीव अखाड़े आवा" के अनुसार भारतीय, विशेषतः हिन्दी प्रगतिशील लेखक जो अपने मस्तिष्क पर अविश्वास करके वोल्गा मैया से सींची गई जमीन को ही अपनी मातृभूमि मानते हैं और वहाँ के प्रोलेटेरियट लेखकों का ही मस्तिष्क उधार लेकर सोचते हैं, उस रूस के साहित्यकारों पर भी एक निगाह डालना गुनाह न होगा।

सन् १९२९ में आर० ए० पी० पी० "प्रोलेटेरियट लेखकों का रूसी संघ" की स्थापना हुई। सन् १९३० में आर० ए० पी० पी० की पत्रिका में एक महत्वपूर्ण बात छपी—"सोवियत साहित्य के सामने आज केवल एक समस्या है, पंचवर्षीय योजना और उसके ढाँचे के अंदर वर्ग-संघर्ष का अभ्युदय। साहित्यिक प्रवृत्तियों में यथार्थ का समन्वय होना अनिवार्य है। कुलकों का दमन, लाल सेना की वीरता, औद्योगीकरण, गाँवों का समष्टीकरण इत्यादि साहित्य के मुख्य विषय हैं।" उस समय रूसी साहित्य में मार्क्सवाद का गला इस बेरहमी से घोटा गया कि कब्र में मार्क्स की आत्मा काँप उठी। मायकावस्की उस युग का प्रचंड वाम-पक्षी जन-कवि माना गया है। यह जन-कवि नारेबाजी में अधिक विश्वास करता था। वह साहित्य को राजकीय अनुशासन के अन्तर्गत मानकर लेखक की रचनाओं में वैयक्तिक छाप का विरोधी था। यूरी-ओलेशा ने इस संकीर्णता का विरोध किया। उसने कहा, "लेखक वही लिख सकता है जो उसकी अनुभूति की पकड़ में आ जाय, उसके बाहर लिखना बेईमानी है। मैं जो अनुभव ही नहीं करता, वह किसी के आदेश से क्यों लिखूँ!" इसी प्रकार 'वोरोन्स्की', 'मैक्सिमगोर्की', 'मार्क रोजेन्थाल', 'लिफशित्ज़' इत्यादि सभी रूसी महान् कलाकारों ने मायकावस्की तथा आवरबाख ऐसे असाहित्यिक पेशेवर प्रोपेगेन्डिस्टों का कड़ा विरोध किया और अंत में अपनी बनाई दुनिया से स्वयं ऊब कर घोर प्रगतिवादी मायकावस्की नितान्त पलायनवादी बनकर आत्म-हत्या करके अपने जीवन

का अंत करता है। और स्टालिन ने भी उस पार्टी को असाहित्यिक समझ कर भंग कर दिया, नहीं तो कितनों को आत्म-हत्या करनी पड़ती। आवरबाख को स्टालिन ने सायबेरिया का टिकट कटा के बोरिया बंधना के साथ पार्सल कर दिया। अब रूस के साहित्यिक फिर वापस लौट रहे हैं; (क्योंकि अभी तक जो मंजिल रूसी साहित्यकारों ने तय की थी वह लक्ष्यहीन और ऊबड़-खाबड़ थी) अपने अतीत को झाँक रहे हैं; पुश्किन, टालस्टाय, चेखव और गोर्की को ढूँढ रहे हैं।

मायकावस्की संकीर्ण व्यक्तिवाद तथा अस्थायी सामयिक भावनाओं से जितना ही ओत-प्रोत था उतनी ही मात्रा में गोर्की इन चीजों से घबड़ाता था। 'पोक्रोवस्को', 'आवरबाख', और 'पेरेवर्जव' ने नारा लगाया कि प्राचीन साहित्य व्यर्थ है, क्योंकि लेखक वर्तमान से विमुख नहीं हो सकता। इस सामयिकता के प्रभाव का असाहित्यिक घना कुहासा रूस में इस बुरी तरह छा गया कि लेनिन का दम घुटने लगा—उसने कहा, "मुझे तो अब भी पुश्किन सर्वश्रेष्ठ लगता है।" यही नहीं लेनिन, प्राचीन रोमान्टिक साहित्य को, जिसमें रस था, आत्मा को, दिल को, दिमाग को विभोर करने वाली गंध थी, खूब चाहता था। 'वारबूजे' का 'लाफू' 'हाइना' के गीत, गेटे का फाउस्ट उसे प्राणों से भी प्यारे थे।

हिन्दी साहित्य में पोक्रोवस्की और आवरबाख के गुट में हम डा० राम विलास शर्मा एन्ड कम्पनी को रख सकते हैं। इनकी आँखें भी सामयिकता की कृत्रिम चकाचौंध से पराभूत हैं और जिस समय भ्रम का पर्दा रूस की तरह फट जायगा उस समय ये लोग भी अपने अतीत के सुनहले पन्नों को जोड़ेंगे जिन्हें अभी सिगड़ी सुलगाने के लिये घर के कोने में डाल रखा है।

मार्क्स ने एक स्थान पर कहा है कि "प्राचीन साहित्य की निंदा करने वाले ये संकीर्ण वर्गवादी वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त को समझते ही नहीं।" किन्तु हमारे भारतीय प्रगतिशील कलाकार बेचारे मार्क्स के नाम पर

अलग ही खिचड़ी पका रहे हैं। स्टालिनग्राड के मोर्चे के बारे में लगभग १०, ११ नाटक लिखे गये किन्तु आज उनमें एक भी प्राप्य नहीं है। क्यों? उसके असामयिक निधन का कारण यही है कि न तो उन नाटकों में कला थी, न रस, न व्यापकता। जीवन का खंड सत्य उन नाटकों ने सामने रखा। यदि पूर्ण सत्य का प्रदर्शन किया होता तो सम्भवतः पुश्किन और गोर्की की रचनाओं की तरह उनमें भी अमरत्व के फल लगते।

अतः रूस के प्रचारात्मक साहित्य के असामयिक निधन से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि स्थायी और शाश्वत साहित्य की रचना के लिये साहित्यकारों को वर्तमान से बहुत ऊपर उठने की आवश्यकता है। मानव की चिरन्तन, सत्य अनुभूतियों को कागज पर उतारने के लिये किसी एक वर्ग को लेकर साहित्य रचना अस्थायी और क्षणिक होगी। उसमें जीवन के सम्पूर्ण सत्य की छाप न होगी। रूस का उदाहरण सामने है। वहाँ के युद्ध के समय के प्रगतिशील कलाकार जब पुनः अतीत की ओर लौट रहे हैं, सामयिक साहित्य की निन्दा करते हुये स्थायी और शाश्वत साहित्य की ओर झुक रहे हैं—फिर हिन्दी साहित्य में डा० रामविलास शर्मा एन्ड को० क्यों फूटी खंजड़ी बजा रही है जिसका स्वर अब बहुत पुराना पड़ गया है!

जिस प्रकार आज रूस में प्रोलेटेरियट वर्ग का साहित्य न लिखकर 'जन गण' का साहित्य लिखा जा रहा है, उसी प्रकार हमें चाहिये कि उनकी गलतियों से लाभ उठाकर साहित्य के रस में सब वर्ग, सब समाज तथा समग्र विश्व को निमग्न कर दें। केवल एक वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाला साहित्य भी कालांतर में यदि जीवित रहा (जो असंभव है) तो वह भी एक प्रकार का 'बुर्जुआ' साहित्य ही गिना जायगा।

इतिहास इसका साक्षी है कि अव्यवस्था, अराजकता तथा क्रांति के समय नैतिकतावाद (प्योरिटनिज्म) का एक अंधड़ और तूफान मचाने

वाला बवंडर उठता है जिसमें सुकुमार अनुभूतियाँ, कला, कल्पना तथा प्रेम का रोमानी स्वरूप तिनके की भाँति उड़-सा जाता है। आज इसी प्योरिटनिज्म के प्रबल प्रभंजन के आघात से हमारा हिन्दी साहित्य भी काँप रहा है। हमारे देश के प्रगतिवादी कलाकार रोमांटिक प्रेम भावना के विरुद्ध किले बंदी कर रहे हैं। उनके मतानुसार प्रणय संबंधी सुकुमार अनुभूतियों से अनुप्राणित सारा साहित्य पलायनवादी, प्रतिक्रियावादी और बुर्जुआ है। वे नारी को क्रांतिकारिणी संगिनी के रूप में ही अङ्गीकार करते हैं। अन्य किसी रूप में उसका वर्णन साहित्य को विषाक्त करने में समर्थ होगा तथा सारे मानव प्राणियों में क्षय-रोग के कीटाणु का बीज वपन कर देगा। किंतु कवि और सैनिक में अंतर होता है। मशीन चलाने वाले मजदूर और उपन्यास-लेखक में भिन्नता होगी ही। कविता और साहित्य को एटम बम मानने से काम न चलेगा। यद्यपि इसमें एटम बम से भी अधिक शक्ति हो सकती है, फिर भी साहित्यकार अपनी प्रतिभा से वह एटम बम नहीं बनाता जो हिरोशिमा और नागासाकी को पृथ्वी के धरातल से ही उठा दे। वह ऐसा बम बनाता है जो मानव में प्रेम, दया, दाक्षिण्य, क्षमा, सहानुभूति तथा उत्साह पैदा कर-कर के जीवन-संघर्ष में नवीन स्फूर्ति और अथक साहस से जूझने के लिये बल दे, प्रेरणा दे।

जिस प्रकार जीसस का विरोध नासमझ यहूदियों ने किया उसी प्रकार प्रसिद्ध रोमांटिक रूसी कवि येसेनिन का विरोध मायकावस्की के गुर्गों ने इस सीमा तक किया कि उसे आत्म-हत्या करनी पड़ी। फिर भी येसेनिन के जनाजे के साथ अपार जन समूह को आँसू बहाते देख प्रोलेटेरियट सरकार की आँखें खुल गईं। आज रूस में प्रेम गीत के अमर गायक येसेनिन की पूजा हो रही है। मशीनों की धमा चौकड़ी और घरघराहट से ऊब कर वहाँ के साहित्यिक प्रेम के गीत लिख रहे हैं। मायकावस्की भी, जो मशीन चलाने को कविता लिखने से अच्छा समझता

था, जिस सत्य को प्राण रहते न समझा वह मरते समय समझ गया। और उसके इस कथन में उसके साहित्यिक सिद्धांतों की पराजय साफ प्रकट होती है। उसने अंतिम समय में लिखा :—

मैंने अपनी भावना को जकड़ दिया था
और अपने गीतों को पैर के नीचे दबा कर
उनका गला घोंट दिया ....*

अपने बनाये हुये जाल में संकीर्णवादी मायकावस्की स्वयं फँस गया। स्टालिन ने भी उसकी संकीर्ण मनोवृत्ति का विरोध किया। फलस्वरूप येसेनिन की मृत्यु के केवल पाँच वर्ष बाद उसने भी आत्म-हत्या कर ली। अन्त में एक दिन उसका भी जनाजा उसी रास्ते से गुजरा...... येसेनिन ने मर कर एक सवाल पूछा था—क्या बिना प्यार के कोई भी साहित्य जीवित रह सकता है? मायकावस्की ने मर कर उत्तर दिया—'नहीं'।†

प्रत्येक युग का, प्रत्येक देश का, प्रत्येक जाति का मानव एक-सा रहा है। उसके हृदय में प्यार का विमल स्रोत अनादि काल से ही बहता आ रहा है। कोई सरकार या सरकारी विधान, कोई क्रांति और कोई सामाजिक व्यवस्था उसका यह जन्मसिद्ध अधिकार उससे छीन नहीं सकती। विज्ञान चन्द्रलोक तक हमें ढकेल कर हमारे आश्चर्य को दूर कर सकता है। बेतार के तार से वह संसार के रहस्य को दूर कर उसे एक डिबिया में हस्तामलक दिखला सकता है। वेदांत और दर्शन के सहारे हृदय का छिछला हास्य और घृणोत्पादक भाव दूर किये जा सकते हैं। विश्वबन्धुत्व की भावना एटम बम का भय और तज्जनित क्रोध और सुरक्षा के निमित्त उठने वाले उत्साह को दबा सकती है।

गीता में वर्णित आत्मा की अमरता और शरीर की नश्वरता विषयक

---

* प्रगतिवाद एक समीक्षा—धर्मवीर भारती

† " " "

उपदेश मानव हृदय से दया का स्रोत सुखा सकते हैं। पर प्रेम रस कभी न सूखने वाला सिंधु है जो समस्त प्राणियों को जीवन-दान देता रहता है। ऐसे शुद्ध, सात्विक और स्वाभाविक प्रेम और शृङ्गार का वर्णन साहित्य में अपेक्षित है। शृङ्गार के आ जाने पर प्रगतिशीलता की गति तनिक भी न थमेगी, इतना मुझे विश्वास है—किन्तु उसके अभाव में प्रगति की दुर्गति होगी ही जैसा कि आज रूस में हो रहा है, जहाँ शेक्सपीयर की ओर जनता ललचाई नजरों से देख रही है।

किसान और नागरिक के बिना काव्य का काम चल सकता है, उसमें से नारी हटाते ही उसका जीवन नष्ट हो जाता है।* वास्तव में माता, भगिनी, पत्नी और मित्र के रूप में नारी का मूल्य निरतर आँका गया है। उससे सम्बन्धित प्रेम समाज को समुन्नत करने में पूर्ण सहायक होगा। प्रसाद, पंत, निराला, भगवतीचरण वर्मा, रामकुमार वर्मा, महादेवी वर्मा, सुभद्रा कुमारी चौहान, माखनलाल चतुर्वेदी, मैथिलीशरण गुप्त इत्यादि ने नारी को लेकर प्रेम विषयक जो कवितायें लिखी हैं उसे पाकर हिन्दी साहित्य निहाल हो गया। किन्तु प्रो० जगन्नाथ प्रसाद मिश्र का कथन है कि "नर-नारी के बीच जो प्रेम होता है उसमें स्वाभाविक यौन-आकर्षण एवं हृदय वेग की अपेक्षा आर्थिक प्रयोजन की मात्रा ही अधिक है।" मानव-हृदय के अमूल्य रत्न, प्रेम को मिश्र जी द्वारा आर्थिक तराजू पर तौला जाना सुनकर कहीं नारी समाज अपने निःस्वार्थ प्रेम की अवहेलना समझकर पोटैशियम सायनाइड का उपयोग न करने लगे। मानव जीवन से प्रेम छिन जाने पर वह जीवन जीवन न होगा।

---

* Poetry can do without the husbandmen and the burgher, but take away woman and you cut it its very life away.

मेयर—सेक्सुअल लाइफ इन एनशेंट इंडिया, प्रथम पोथी, पृष्ठ ६

मशीन भी न होगा, वह होगा टूटे-फूटे कल-पुर्जों का समुदाय मात्र। प्रेम मनुष्य की शाश्वत भूख है जो कभी भी शांत नहीं हुई। उसका चित्रण यदि साहित्य में न हो तो वह साहित्य साहित्य न होकर अखबार का एक टुकड़ा मात्र बन जायगा।

काडवेल महोदय का मत है कि प्रेम चाहे कितना ही महत्वपूर्ण और अलौकिक क्यों न हो, लेकिन आर्थिक उत्पादन से परे उसकी कोई कीमत नहीं। रूस के क्रांति-युग में मायकावस्की, गिडाश इत्यादि कविपुंगवों ने काडवेल वाले प्रेम का समर्थन किया, जिसका विरोध महान् कवि येसेनिन तथा यूरीओलेशा ने किया। आज कोई भी आँख खोलकर देख ले कि जीत येसेनिन और यूरीओलेशा की ही हुई।

किन्तु प्रेम के अमृत-सरोवर में वासना के घिनौने कीड़े न हों जो पाठकों को तपेदिक का मरीज बना दें। अतृप्त काम-वासना के जल को साहित्य की पगडंडी पर बिखराने से वीणा-पाणि के पवित्र मंदिर में जाने वालों के पैर में अश्लीलता की दुर्गन्धयुक्त कीचड़ लग जायगी, देवी का पावन मंदिर अपावन बनने से समाज को, व्यक्ति को और जीवन को जीवित रहने का वरदान न मिलेगा। 'अचल' ने कहीं-कहीं प्रेम का वही रूप लिया है जो समाज और व्यक्ति को उस ओर खींच ले जा सकता है, जिस ओर मदन दहन के प्रकरण में गो० तुलसीदास ने संकेत किया है :

धरा न काहू धीर सब कर मन मनसिज हरे,
जेहि राखा रघुबीर ते उबरा यहि काल महँ।

अंचल की कुछ पंक्तियों को पढ़ने से 'धरा न काहू धीर' वाली दशा हो जाती है क्योंकि सबका मन मनसिज हर लेता है। एक बानगी लीजिये :—

भर लो आज महासागर अधरों में ओ सपनों वाली,
उफनाती है प्यास न जाने कब से मेरी मतवाली।*

* अपराजिता, पृ० ५२

कवि इतने से भी नहीं मानता, वह तो छूटे हुये साँड़ की तरह माँ, बहिन पर भी हमला करने को तैयार हो गया है :

आज सोहाग करूँ मैं किसका लूटूँ किसका यौवन,
किस परदेशी को बंदी कर सफल करूँ वह वेदन।

इस प्रकार कहीं-कहीं अंचल ने नारी को केवल योनि मात्र मान कर ही उसके नशीले चोचलों और मदमाते नयनों पर ही अपनी साधना का अर्घ्य चढ़ाया है। ऐसा गंदा और वैयक्तिक प्रेम समाज के लिये अहितकर है। मैं ऐसे प्रेम को साहित्य में ले जाने का विरोधी हूँ, किन्तु विश्व को एकता के सूत्र में बाँधने वाला प्रेम सचमुच ग्राह्य है।

सुमित्रानंदन पंत जैसे कवियों की प्रेम भावना कितनी स्वस्थ और कितनी कल्याणकारी है। उसका भी एक उदाहरण लीजिये :

तुम्हारे गुण हैं मेरे गान,
मृदुल दुर्बलता, ध्यान;
तुम्हारी पावनता, अभिमान,
शक्ति, पूजन सम्मान;
अकेली सुन्दरता कल्याणि!
सकल ऐश्वर्यों की संधान।
तुम्हीं हो स्पृहा, अश्रु औ' हास,
सृष्टि के उर की साँस,
तुम्हीं इच्छाओं की अवसान,
तुम्हीं स्वर्गिक आभास;
तुम्हारी सेवा में अनजान,
हृदय है मेरा अंतर्धान;
देवि! मा! सहचरि! प्राण!*

---

* पल्लविनी, पृ० ६७, सुमित्रानंदन पंत

जिस नारी को प्रगतिशील लेखक केवल सहचरि ही मानकर छोड़ देता है, उसकी आराधना कवि 'देवि, मा, सहचरि, प्राण' कहकर करता है। एक ओर प्रगतिशील खंड सत्य की पूजा करता है, दूसरी ओर डा० रामविलास शर्मा के शब्दों में प्रतिक्रियावादी कवि पंत पूर्ण सत्य की पूजा करता है। निश्चय है कि सम्पूर्ण अपने खंड से अच्छा होता है।

वीरगाथा काल में तलवारों और भालों की चमक में नारी की बिंदी और आँखों का काजल भी प्रेरणा देता था। धार्मिक युग में कबीर, जायसी, तुलसी, सूर और मीरा ने अपने काव्य में प्रेम का वह पावन स्रोत बहाया है जिसके स्पर्श मात्र से ही मनुष्य देवता बन जाता है। रीतिकाल में अवश्य कुछ कवियों ने अपने विलासी राजाओं को रिझाने के लिये प्रेम को बहुत छिछले स्तर पर चित्रित करके उसके सामाजिक गुणों को नष्ट करके काफी छीछालेदर की है। आधुनिक युग में छायावादी कवियों ने रीतिकालीन हाड़-मास वाले प्रेम को अशरीरी बनाकर अपनी साधना का आधार बनाया जिसमें पंत, प्रसाद, निराला और महादेवी वर्मा का प्रेम हृदय का कोना-कोना छूने में समर्थ होता है।

फिर प्रगतिवाद शुद्ध प्रेम का बहिष्कार करके कितने दिन जीवित रह सकेगा? जब संसार से प्रेम ही लुप्त हो जावेगा तो 'ए' से 'जेड' तक के विटामिन और गेहूँ चावल उसे नष्ट होने से बचा न सकेंगे। फिर तो, न वर्ग रहेगा, न वर्ग संघर्ष। न बाँस रहेगा न बाँसुरी। न साहित्य रहेगा न जीवन। मास्को का प्रगतिवादी रेडियो जब प्रेम का एलान करने लगा है, फिर हमारे देशी कम्युनिस्ट प्रगतिशील लेखकगण अभी तक क्यों हँसिया और हथौड़ा हाथ में ले मजदूरनी के आँचल में मुँह छिपाये क्रांति-क्रांति जप रहे हैं!

जीवन में धर्म का एक विशिष्ट स्थान है। धर्म वही है जो धारण करने योग्य हो—अर्थात् क्षमा, दया, धृति, प्रेम, सदाचार इत्यादि।

इसलिये सत् साहित्य में धर्म का स्थान रहा है और रहेगा—किन्तु रूढ़िवादी धर्म नहीं, ब्राह्मणों का कठमुल्लापन भी नहीं, न जारशाही के पादरियों का धर्म, न तो हेनरी अष्टम के समय का पोपों का धर्म। (जो लाख दो लाख रुपया लेकर स्वर्ग का पासपोर्ट देते फिरते थे।) ऐसे विकारग्रस्त धर्म का सदैव विरोध हुआ है। ऐसा धर्म जो समाज को खोखला करके किसी वर्ग विशेष के ही अधिकारों की गारंटी दे वह धर्म सच्चा धर्म नहीं। "पुराने सड़े हुये मजहब का विरोध हर नये प्रगतिशील धर्म ने किया है। उपनिषद्कारों ने ब्राह्मणों के कर्म काण्ड के विरुद्ध विद्रोह किया। बौद्धों ने हिंसात्मक धर्म के विरुद्ध विद्रोह किया, रामानंद ने जाति व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह किया, दयानंद ने कट्टर हिन्दू धर्म का विद्रोह किया, गाँधी ने कट्टर मजहबीपन का विरोध किया और ये सभी धार्मिक व्यक्ति थे, अध्यात्मवादी थे।"* रूस ने भी धर्म का अखंड साइन बोर्ड हटा कर धर्म की उन रूढ़ियों को तोड़ दिया जो भावना के चरम विकास में बाधा पहुँचाते थे।

इस प्रकार प्रत्येक धर्म के अंतर में मानव को महान् बनाने की प्रेरणा छिपी रहती है। तुलसी ने "बिनु पद चले सुनै बिनु काना, कर बिनु कर्म करै विधि नाना" वाले निर्गुण ब्रह्म को कौशल्या की गोद में उतार कर शबरी, निषाद, बानर, भालू और गृद्धों तक पहुँचा दिया। मनुष्य की कौन कहे पशु-पक्षी और बानर-भालू भी मानवता के प्रेम में पागल हो अपने युग के प्रसिद्ध पूँजीपति और आततायी रावण से लोहा लेते हैं।

जटायु सीता जी को रावण द्वारा ले जाते हुये देख आत्मग्लानि से व्याकुल हो उठता है। तुलसी का पक्षी भी पर-स्त्री-गामी रावण का विरोध करता है। वह बुड्ढा होने पर भी रावण को द्वन्द्व के लिये ललकारता है:

* प्रगतिवाद : एक समीक्षा—धर्मवीर भारती

रे ! रे ! दुष्ट ठाढ़ किन होही । निर्भय चलेसि न जानेसि मोही ॥
चोंचन्ह मारि विदारेसि देही । दंड एक भइ मुर्छा तेही ॥

अंत में घायल होने पर भी जटायु अपने पुनीत कर्म पर दुखी नहीं है :
"मन मँह गृद्ध परम सुख माना । राम काज मम लागेउ प्राना ।"

रावण ऐसे शोषक का विरोध, जिसने ऋषियों से भी रक्त के रूप में टैक्स वसूल किया, मानवता के रक्षार्थ और हितार्थ ही किया गया था । ऐसे धर्म को पाकर हमारा साहित्य धन्य हो उठेगा । पता नहीं ऐसे धर्म को भी हमारे देशी प्रगतिशील लेखक क्यों नहीं मानते ? हमारे अधिकांश प्रगतिशील लेखक तो घृणा, विद्रोह, विनाश और संघर्ष में विश्वास करते हैं । रचनात्मक साहित्य न देकर संहारात्मक प्रवृत्तियों को उभाड़ते हैं । उनका काम केवल यह कहना है कि 'चढ़ जा बेटा सूली पर' और स्वयं नीचे खड़े-खड़े ताली पीटते हैं ।

गोर्की का 'मा' उपन्यास रूस में बाइबिल की तरह पूजा जाता है । एक स्थान पर 'मा' का नायक पवेल ईश्वर की व्याख्या करता है । मा कहती है, "परन्तु मुझ बुढ़िया से अगर तुम मेरा ईश्वर भी छीन लोगे तो फिर मेरे पास मुसीबत के लिये क्या सहारा रह जायगा ?"

पवेल इसका उत्तर देता है, "मा, मैं उस अच्छे और कृपालु ईश्वर के विषय में कुछ नहीं कह रहा था, जिस पर तुम विश्वास करती हो । मैं तो उस ईश्वर के बारे में कह रहा था, जिसके नाम पर धार्मिक लोग हमारे दिल में भूत का हौआ पैदा करते हैं, जिसके नाम का दुरुपयोग करके हम सब को थोड़े से आदमियों की कुत्सित इच्छाओं का दास बनाने का प्रयत्न किया जाता है ।"*

राइविन कहता है, "मनुष्य ईश्वर का स्वरूप है तो उसे ईश्वर की ही तरह आचरण करना चाहिये । परन्तु हमलोग ईश्वर तो नहीं लगते,

* मा—मैक्सिम गोर्की

जानवर बन गये हैं। शायद हम लोगों को अपना ईश्वर भी बदलना पड़े या, हमको अपना ईश्वर भी स्वच्छ करना होगा। उन्होंने ईश्वर को असत्य और पाखंड के आचरण में छिपा रखा है। उन्होंने हमारी आत्मायें नष्ट करने के लिये ईश्वर के मुँह पर कालिख पोत दी है।''*

इस प्रकार गोर्की ने रूढ़िवादी पडों और पुरोहितों के ईश्वर का विरोध करते हुये 'हमसे प्रिय हमार हैं दासा' वाले ईश्वर की स्थापना की। तुलसी ने भी लिखा है :

"सिया राम मय सब जग जानी। करौं प्रणाम जोरि जुग पानी ॥"

जो धर्म हमें विश्वबन्धुत्व की ओर खींचे, हृदय में दया, सहानुभूति और प्रेम जागृत करे उस धर्म का बहिष्कार करने वाला साहित्य विधवा के सदृश होगा। रूस में धर्म का नहीं धार्मिक रूढ़ियों का विरोध हुआ। हर प्रगतिशील व्यक्ति रूढ़ियों का विरोध करेगा। परन्तु भारतीय प्रगतिशील लेखक अर्थ का अनर्थ करते हैं। उनका बुद्ध, महावीर, राम, कृष्ण, जीसस, दयानंद, रामतीर्थ, राममोहन राय तथा गाँधी इत्यादि प्रगतिशील साधकों को, जिन्होंने भारतीय संस्कृति और मानवता के कल्याण के निमित्त अपना सर्वस्व स्वाहा कर दिया, प्रतिक्रियावादी और पूँजीपतियों का दलाल घोषित करना अपनी ही संकीर्ण बुद्धि का परिचय देना है। उपर्युक्त धार्मिक या राजनीतिक नेता अपने-अपने युग के महान् क्रांतिकारी नेता थे। अतः जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले साहित्य में रूढ़िवादी धर्म नहीं सच्चे मानववादी धर्म का होना अनिवार्य है अन्यथा साहित्य पानी पर की लकीर बन जायगा। संस्कृति और सभ्यता के विनाश होने पर आर्थिक दृष्टिकोण से सम्पन्न समाज पशुओं का समुदाय मात्र रह जायगा।

आहार निद्रा भय मैथुन.........

---

* मा—मैक्सिम गोर्की

आज का रूसी ब्रैन्ड प्रगतिशील साहित्य कला को आदर की दृष्टि से नहीं देखता। उसके लिये कला नखरेबाजी है। सब बाजियों की तरह नखरेबाजी भी समाज के लिये हितकर नहीं। वह क्वानटिटी पर विश्वास करता है, क्वालिटी पर नहीं। आइये, साहित्य के कला पक्ष पर भी कुछ विचार करें।

साहित्य में सत्यम, शिवम् , सुन्दरम् ,से ही कला का पोषण होता है। जो सत्य है वही सुन्दर है और सुन्दर है वही शिवम् बन जाता है। सौन्दर्य क्या है, इसे जाने बिना सत्यम् और शिवम् को आसानी से नहीं समझा जा सकता।

गेटे के अनुसार सौन्दर्य अपेक्षणीय है। मैंडेल सोन जैसे जर्मन संगीतज्ञों ने सौन्दर्य का उद्देश्य सरलता और शांतिदायक कहकर टाल दिया। कीट्स के शब्दों में सौन्दर्य सदा वृद्धिगत होता रहता है, वह कभी मिटकर शून्य नहीं होता। अतः सौन्दर्य परम आनन्द का विधान है।

टामस वेली ऐलडिज ने भी इसी मत का समर्थन किया है—"जो सुन्दर है वह कभी नहीं मरता, अपितु वह और दूसरे सौन्दर्य से मिल जाता है।" राबिन्सन जेफर्स का कहना है कि "वस्तुओं का सौन्दर्य आँखों के जन्म से पहले निर्मित हुआ था और यह हृदय विदारक सौन्दर्य तब भी अमर रहेगा जब कोई हृदय नहीं बचा रहेगा।" यो कवि के मत से "सौन्दर्य उस नौका के समान है जो पुनः उसे अपने घर ले जाने में सहायक हो।" रस्किन का कहना है कि "सौन्दर्य का गुण है उसकी उपयोग शून्यता।"

यद्यपि सौन्दर्य से कोई भी अपरिचित नहीं है फिर भी इसमें इतनी रहस्यात्मकता है कि इसकी परिभाषा असम्भव-सी जान पड़ती है। सौन्दर्यानुभूति की परख करने में कोई भी दो विद्वान या सदाचारी एक मत नहीं हो सकते। एक ही व्यक्ति विभिन्न सुन्दर वस्तुओं को देखने पर

अपना कोई निश्चित माप-दण्ड नहीं बना सकता तथा तथ्य सर्वसाधारण के लिये जितना ही सत्य है उतना ही व्यक्ति विशेष के लिये भी। एक ही वस्तु का लावण्य यदि किसी को सौन्दर्य विभोर कर सकता है तो वही लावण्य दूसरे के हृदय में घृणा और असंतोष का भी सृजन कर सकता है। इसलिये साधारण आदमी के लिये सौन्दर्य किसी चित्रवस्तु (Objective Found) पर नहीं निर्भर करता। उसकी दृष्टि बाह्य गुणों पर जाती है इसलिये उसके सौन्दर्य का माप दण्ड भी सतत परिवर्तनशील है। सौन्दर्य का संबंध उनके लिये संसार की सत्यता से नहीं है। यह तो व्यक्तिगत रुचि और इच्छा पर निर्भर करता है जो निरंतर परिवर्तनशील है। एक सुन्दर वस्तु हमें ऐसा आनन्द प्रदान करती है जो इन्द्रियजन्य सुख से कहीं बढ़कर होता है। वह ऐसा आनन्द है जिसके अभाव में दुःख का आभास मिलता है। विवेकी मस्तिष्क चित्र के बाहरी चटकीले रंग में न मस्त होकर उसके अभ्यंतर में पैठता है। अतः जिस वस्तु के देखने से मन की कलियाँ खिल उठें उसमें एक अलौकिक आनन्द मिलता है। सरिता के कल-कल प्रवाह, अमराइयों की नीरव भाषा तथा लता की लचक से कहीं अधिक 'बिहारी' की नायिका मन को खींचती है; क्योंकि उसमें मुख की सुघड़ता के साथ-साथ एक सजीवता है, सजगता है, हृदय है, बुद्धि है तथा अन्य बहुत-सी चीजें हैं जो जड़ पदार्थ में नहीं होतीं।

इस तरह साहित्य में सौन्दर्य अपेक्षित है। सौन्दर्यविहीन साहित्य जीवित नहीं रह सकता। साहित्य में भावों का गुम्फन इस प्रकार हो कि प्रत्येक नस रस से सराबोर हो जाय। सब प्रकार के संतुलन में ही सौन्दर्य का दर्शन हो सकता है। विचारों और भावों का सतुलन मस्तिष्क की निकृष्टता का द्योतक नहीं बल्कि उसे आत्म-विभोर करने वाली जादू की छड़ी है जो उसे कर्म-पथ पर सतत् क्रियाशील करती रहती है। इस प्रकार सतुलन और समन्वय को जन्म देने वाली चीज अवश्य सुंदर होगी। जब हमारी सब भावनायें एकरस हो जाती हैं तब वे साथ साथ काम

करती हैं; किसी का किसी से विरोध नहीं होता तब उसका परिणाम बड़ा सुखद होता है। कोई नवयुवती संपूर्ण रूप में सुन्दर लग सकती है—क्योंकि उसमें स्पन्दन है, शक्ति है, चेतनता है; किन्तु उसके शरीर से चमड़ा अलग कर दिया जाय तो शरीर से पृथक् चमड़ा निज का कुछ भी अस्तित्व न रखने के कारण अशोभन और असुन्दर प्रतीत होगा। इसी तरह आँख किसी अनिंद्य सुन्दरी को देखते ही उसके बाह्य सौन्दर्य से चिपक जाती है। बुद्धि के संयोग से संभव है वह रमणी सुन्दर न लगे, क्योंकि तर्क और मस्तिष्क ने बताया कि वह कोई दुराचारिणी पेशेवर औरत है। बुद्धि की प्रखरता से सुन्दर और असुन्दर का झगड़ा और जल्दी सुलझ जाता है। उस समय कुरूप भंगिन जिसके मुख पर संयम और सतीत्व की छाप है उस कमल-पंखुड़ी के सदृश राजरानी से अधिक सुन्दर प्रतीत होती जो रात में कई बिस्तरे बदलती है।

ठीक इसी भाँति साहित्य में स्त्री के सदृश बाह्य और आंतरिक दोनों सौंदर्य अपेक्षित हैं। स्त्री के बाह्य सौंदर्य के उपादान उसके सुन्दर रूप-रंग और वस्त्राभूषण के अलावा उसके हाव-भाव हैं। आंतरिक सौंदर्य में उसकी दया, ममता, स्त्रीत्व और सतीत्व की गिनती की जा सकती है। दोनों के समन्वय में उसका सौंदर्य मंगलकारी होगा। बाह्य सौंदर्य के अभाव में आंतरिक सौंदर्य ही उसे अमर बनाने में काफी योग देगा। साहित्य में भी भाषा, छंद, अलंकार बाहरी उपादान हैं, भाव और रस आंतरिक। साहित्य का सौंदर्य रमणी के सौंदर्य से थोड़ी भिन्नता रखता है। साहित्यिक सौंदर्य में आत्म विभोर करने की शक्ति हो किन्तु वह शक्ति मॉरफिया के इंजेक्शन की तरह मूर्छित करने वाली न बनकर चेतनता और स्फूर्ति दे सके। आज का प्रगतिशील लेखक जन साधारण के लिये साहित्य लिखने को मजबूर करता है। इसके लिये उनके अनुसार भाषा, भाव और अभिव्यंजना प्रणाली में आमूल परिवर्तन होना चाहिये, वह परिवर्तन ऐसा हो जिसे किसान मजदूर भी आसानी से समझ सकें।

प्रतीकात्मक, लाक्षणिक एवं अलंकारिक व्यञ्जनात्मक भाषा तक जन साधारण की बुद्धि नहीं पहुँच पाती। भाषा और भाव के साधारणीकरण के पक्ष में मैं हूँ किन्तु भाषा और भाव के स्तर को मजदूरों और किसानों के लिये इतना गिराने के पक्ष में नहीं हूँ कि उसका नैसर्गिक लालित्य समाप्त हो जाय। जो चीज जितनी ही हलकी होती है उसका अस्तित्व उतनी ही जल्दी समाप्त हो जाता है। सरलता इतनी ही हो कि वह साहित्य की सीमा के अंतर्गत रह सके। साधारण पाठकों के लिये 'हनुमान चालीसा' लिखा जा सकता है (और लिखना भी चाहिये) किंतु रामचरितमानस को हनुमान चालीसा के स्तर पर उतारने से जन-जन का कल्याण युग-युग तक न हो सकेगा। उसका प्रकाश बिजली की कौंध की तरह क्षणिक होगा। प्रगतिशील साहित्य जैसा कि मैंने ऊपर विवेचन किया है तीन शाब्दिक शक्तियों में 'अविधा' पर ही विश्वास करता है। लक्षणा और व्यंजना उसकी विचार-परिधि से बाहर हैं। ऐसा लेखक जो शब्द की अविधा शक्ति को ही प्रगतिशीलता की एक कसौटी मानता है, वह समाचारपत्र का सम्वाददाता भले ही हो जाय, साहित्यिक कदापि नहीं बन सकता। वैसे ठोंक-पीट कर पार्टीवाले गधे को भी घोड़ा बना दें तो दूसरी बात है। "निज कवित्त केहि लाग न नीका, सरस होइ अथवा अति फीका।" के अनुसार सबको अपनी-अपनी रचना पर गर्व होता है किंतु जिसकी रचना पर सब लोग गर्व करें वही रचना सच्ची है, अतः दीर्घायु होगी। नहीं तो पार्टी की भाषा और शैली में लिखने वाले नौसिखिये लेखक के विचार भ्रूण हत्या के समान कुरुचिपूर्ण और कल्याणकारी होंगे।

आजकल पत्र-पत्रिकाओं में (विशेषतया प्रगतिशील कही जाने वाली पत्रिकाएँ जैसे हंस, नया साहित्य, नई चेतना इत्यादि में) प्रगतिशीलता के नाम पर भाषा की जो फजीहत हो रही है वह सर्वथा अग्राह्य है। ऐसा करने वाला प्रगतिशील लेखक एक रूढ़ि को तोड़कर दूसरी नवीन

रूढ़ि की मजबूत दीवाल बना रहा है। मैं संस्कृतनिष्ठ हिंदी का प्रेमी नहीं–किंतु ऐसी हिंदी का घोर विरोधी हूँ जो न स्त्रीलिङ्ग हो न पुल्लिङ्ग। आजकल की प्रगतिशील हिंदी भाषा का एक नमूना लीजिये :—

"मगर जिस जबान में देहलवी और लखनवी शुअरा या मुसन्निफान के कलाम या आजम खयालात महफूज हैं वह जबान सलासत के जिस पैमाने तक पहुँच चुकी है वहाँ तक हिन्दुस्तान की दीगर जबानें अभी तक अजहद कोशिश करने पर भी नहीं पहुँच पा रही हैं। वजह साफ है——यहाँ तक कि कवायद और वहर के जितने कवावीन थे, सब से बाजाप्ता लैस करके जबान में वह खूबी, वह शीरीनीं, वह कशिश पैदा की कि जिसकी जबान पर चढ़ी, वह जिन्दगी भर गुलाम हो गया। अब हिंदी में भी वह जबाँदानी, वह कशिशे कलाम पैदा करना पड़ेगा वर्ना यह भी निहायत खुश्क, सियासी जबान बनकर बँधी पड़ी रहेगी, निखर न पावेगी।"* ऐसी हिंदी में लिखा गया साहित्य जनसाधारण तक कैसे पहुँच पायेगा?

मुजक्कर होते तो ही (He) होते मुअन्नस होते तो शी (She) होते;
मगर हजरत मुखन्नस हैं न हीयों में न शीयों में।

प्रगतिशील लेखकों में अधिकांश की भाषा मुखन्नस की ओर बढ़ती नजर आ रही है। यदि ठीक आपरेशन न हुआ तो यह भाषा जन-साधारण तक पहुँचने की लालच में 'मुखन्नस' हो जायगी, अतः भविष्य में जिस मार्ग से चलेगी लोग ताली पीट कर उस पर हँसेंगे—और फिर यह मुखन्नसी भाषा लज्जा का अभिनय करके खिसियानी हँसी हँस कर दाँत निपोर देगी। इस तरह की भाषा मुगल बादशाहों के हरम की

---

*'राष्ट्रभाषा', वर्धा, अक्टूबर १६५१
—पं० सीताराम चतुर्वेदी

मुजक्कर = पुल्लिंग, मुअन्नस = स्त्रीलिंग, मुखन्नस = नपुंसक
हीयों = He का बहुवचन, शीयों = She का बहुवचन

शोभा भले ही बढ़ाती रही हो, हिंदी का किसी प्रकार हित नहीं कर सकती।

जीवन के समान साहित्य का क्षेत्र विस्तृत है, जीवन की सुघड़ता के सदृश साहित्य सुन्दर है—किंतु जीवन कुरूप भी होता है, साहित्य कुरूप नहीं होता। उसमें जीवन के जिस सत्य का वर्णन होता है वह सुन्दर और कल्याणकारी होता है। देश और समाज का उद्धार साहित्य द्वारा ही सम्भव है, पर साहित्य सत् हो असत् नहीं। साहित्यकार विज्ञान का तथ्य निरूपण कर सकता है; किन्तु वैज्ञानिक बन कर नहीं, साहित्यिक बन कर। शाश्वत सत्य की शोध कर सकता है; किन्तु दार्शनिक बन कर नहीं, जीवन का उपयोगी मार्ग निर्देशन कर सकता है; परन्तु आर्य समाजी उपदेशक बन कर नहीं। मनोरंजन कर सकता है; किन्तु भाँड़ बन कर नहीं। वह किसी भी 'वाद' का, किसी भी दर्शन का, किसी भी शास्त्र का सत्य निरुपण कर सकता है: किन्तु अपनी साहित्यिक सीमाओं के भीतर ही रह कर। वह अपने युग का भी होता है और युग-युग का भी; व्यक्ति का भी होता है, समाज का भी; क्रांति भी देता है, शांति भी।

"साहित्य के साथ जीवन को संबद्ध किये रखने का आशय इतना ही है कि जीवन संबंधिनी आधार भूत चेतना साहित्य से लुप्त न हो जाय, हम मृत्यु अथवा अगति के उपासक न बन जायँ, निराशा और आत्म-पीड़न को अर्घ्य न देने लगें। इसका आशय यह नहीं कि साहित्य में निराशामूलक प्रवृत्तियों का चित्रण ही न किया जाय। किया वह अवश्य जाय पर आदर्श बन कर नहीं। रचनाकार स्वयं उनमें अभिभूत होकर जीवन का लक्ष्य न छोड़ दे। जीवन का लक्ष्य है जीना। जीना जितना ही व्यापक और समुन्नत स्वरूप धारण कर सके, उतनी ही साहित्यकार की कृत-कार्यता होगी......किन्तु आज साहित्य और जीवन का सम्बन्ध

जोड़ने के बहाने साहित्य को मिथ्या यथार्थ की जिस अँधेरी गली में ले चलने का उपक्रम किया जाता है हम उसकी निंदा करते हैं।"*

जीवन केवल यथार्थ पर ही आधारित नहीं है, उसमें आदर्श का भी पूरा योग है। अतः साहित्य में भी जीवन की तरह यथार्थ और आदर्श का समन्वय होना समीचीन है। यथार्थवाद बुद्धि और अनुभव पर आश्रित होने के कारण अहम् का उपासक है, वह अपनी आँखों पर अधिक विश्वास करता है।

उसके पास वह सूक्ष्म दृष्टि नहीं होती जो युग की सामयिक कच्ची दीवाल को तोड़ कर दीवाल के भीतर बहुमूल्य जीवन के रस को देखने में समर्थ होता है। किंतु आदर्शवाद मानव जीवन की उच्च अभिलाषाओं, महत्वाकांक्षाओं और असाधारण तत्वों पर अधिक जोर देता है जो यथार्थ के मिट जाने पर आदर्श बन कर प्रतिष्ठित रहेगा। अतः साहित्य में कोरा यथार्थवाद मानव जीवन की उच्च भावनाओं, अनुभूतियो और व्यापक दृष्टिकोण को धूमिल बना कर जीवन को एक पक्षीय, संकीर्ण तथा आवश्यकता से अधिक बुद्धिवादी बना देगा। साहित्य के यथार्थ और जीवन के यथार्थ में अंतर होता है। जीवन के यथार्थ का कल्पना की मनोरम तूलिका से रसानुभूति का रंग चढ़ा कर मानव-हृदय-पटल पर साहित्यकार जो मनोरम चित्र बनाता है वह यथार्थ, वास्तविक यथार्थ से अधिक चटकीला और व्यापक होता है। कोरा यथार्थवाद तो इतिहास लेखक के लिये छोड़ देना चाहिये, उसमें साहित्यकार का उलझना अभीष्ट नहीं।

अंत में लेख का कलेवर अधिक न बढ़ा कर हम यह निवेदन करेंगे कि समूचे जीवन को साहित्य में उतारने के लिये जीवन के मूल भाव—भय, आश्चर्य, रति, क्रोध, करुणा, उत्साह, घृणा, हास और निर्वेद का चित्रण अनिवार्य है। साथ ही साथ साहित्य को 'वादों', पार्टियों और राजनीति

---

* आधुनिक साहित्य—आचार्य नंददुलारे वाजपेयी

के दलदल से निकालकर शुद्ध मानवता की समतल सतह पर रखें जहाँ से वह समग्र विश्व को समान भाव से देख सके, जिससे साहित्य व्यक्ति से अधिक समुदाय का हो। भारतीय जन-जीवन की तस्वीर बनाने के लिये रूसी चश्मा, रूसी पेन्ट और चीनी ब्रश का उपयोग न करके स्वदेशी मेटेरियल इस्तेमाल करें तो अच्छा है। कारण साफ है—रूस की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक समस्यायें तथा प्राचीन संस्कृति के सूत्र भारत से भिन्न हैं। फार्म (रूप) की दृष्टि से साहित्य के और अंगों का रूप उतना विकृत नहीं हुआ जितना कि कविता का हो रहा है। इसलिये आजकल के प्रगतिशील कवि-पुंगवों से मेरा यह नम्र निवेदन है कि कविता-कामिनी को नग्न करके उसके गुप्तांगों का दर्शन न करें। यदि दर्शन करना ही उन्हें रुचिकर लगता है तो भाव, भाषा और शैली के आवरण से उसे ढक कर देखें जिससे भारतीय मर्यादा की रक्षा हो सके।

नाटक

नाटक का मूल—प्रणय-लिप्सा, प्रकृति के परिवर्तित रूपों की पूजा तथा नवीन ऋतुओं के स्वागत और भूख निवारण की अतल गहराई में नाटक का मूल बीज छिपा हुआ है। सृष्टि के आरम्भ से प्रत्येक देश के आदि निवासी इन्हीं तीनों के पीछे नाच-गान करते हुये उसी में अपना मनोरंजन ढूँढने का उपक्रम करते थे।

जर्मन दार्शनिक नीट्शे के अनुसार नाटक का बीज दुःख के गर्भ से उत्पन्न होता है। नाट्य-कला के प्रसिद्ध आलोचक मूरे का कथन है कि इस दुःखवाद का प्रादुर्भाव डायोनिसियस की पूजा और शक्ति की महानता के उपलक्ष्य में गाये हुये गानों में निहित था। अरस्तू ने कला का आधार मनुष्यों की अनुकरणात्मक प्रवृत्ति बताया है। इस तरह वास्तु-कला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला और काव्य कला—ये सब कलायें अनुकरण पर ही आधारित हैं। अतएव नाटक का भी आधार मनुष्य की अनुकरणात्मक प्रवृत्ति माना गया है। फ्रांसीसी आलोचक ब्रूनेलरे ने नाटक का आधार दो इच्छाशक्तियों का द्वन्द्व माना है। वह द्वन्द्व दो विभिन्न व्यक्तियों की इच्छाओं से अथवा एक ही व्यक्ति की दो विभिन्न इच्छाओं से उभर सकता है। अंग्रेजी भाषा के प्रसिद्ध कवि, नाटककार तथा आलोचक ड्राइडेन ने नाटकों को मानव जीवन की जीवित तस्वीर कहा है। भारतीय आचार्यों ने नाटक का आधार मनुष्यों की अनुकरणात्मक प्रवृत्ति को मानते हुये उसमें समस्त कलाओं का (स्थापत्य, चित्रकला, संगीत, नृत्य, काव्य) समावेश होना बताया है। आचार्य भरत मुनि के

अनुसार योग, कर्म, सारे शास्त्र, सारे शिल्प तथा अन्य विविध कार्यों का समन्वय नाटक में है।*

आचार्यों ने काव्य को दो मुख्य वर्गों में विभाजित किया है : (१) श्रव्य-काव्य, (२) दृश्य-काव्य। श्रव्य-काव्य के रसास्वादन में कान अधिक चैतन्य रहते हैं और दृश्य काव्य में आँखें। यों तो दृश्य-काव्य का पूर्ण आनन्द बिना कानों के सहयोग के असम्भव होगा किन्तु प्रधानता आँखों को ही मिली है। श्रव्य-काव्य को दृश्य-काव्य में परिवर्तित नहीं किया जा सकता किन्तु दृश्य काव्य को पढ़ कर भी आनन्द लिया जा सकता है।

दृश्य रूप के अनुसार भारतीय नाटक के तीन मुख्य तत्व माने गये हैं : १. वस्तु, २. नेता, ३. रस।

वस्तु—नाटक के आख्यानक को वस्तु (plot) कहते हैं। प्रधान पात्र नायक या नायिका से सम्बन्धित कथा आधिकारिक या प्रधान कथा कहलाती है। नाटक का फल अधिकार कहलाता है और उसके उपभोक्ता 'अधिकारी'। आधिकारिक कथा नाटक की मूल कथा कहलाती है जो प्रारम्भ से अंत तक चलती है। इसके अतिरिक्त कुछ गौण या उप-कथायें नाटक में उत्पन्न हो जाती हैं, जिनका मुख्य उद्देश्य मूल कथा को योग देना है। इन उपकथाओं को 'प्रासंगिक' कथायें कहते हैं जिनका सम्बन्ध नाटक के मुख्य पात्रों से न होकर अन्य पात्रों से होता है। प्रासंगिक कथा के दो भेद हैं—पताका और प्रकरी। प्रासंगिक कथा यदि आधिकारिक कथा को सहायता देती हुई अंत तक चली जाय तो उसे 'पताका' कहते हैं। जब प्रासंगिक कथा बीच में समाप्त हो जाय तो उसे 'प्रकरी' कहते हैं।

---

* न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यत्र दृश्यते।
सर्वं शास्त्राणि शिल्पानि कर्माणि विविधानि च॥

आधार के सम्बन्ध से कथा के तीन भेद किये गये हैं :

१. प्रख्यात—इसके अन्तर्गत पौराणिक या ऐतिहासिक कथायें आती हैं।

२. उत्पाद्य—कवि-कल्पित कथा उत्पाद्य कहलाती है।

३. मिश्रित—जिसमें इतिहास और कल्पना दोनों का मिश्रण हो।

ऐतिहासिक कथाओं का चयन करते समय यह सावधानी रखनी होगी कि उसकी मूल घटनाओं में परिवर्तन न हो। हाँ, प्रासगिक कथायें कल्पना के सहारे रंगीन बनाई जा सकती हैं।

नाटक की अवस्थायें

कथावस्तु के घटना क्रम को पाँच भागों में विभाजित किया गया है जिन्हें 'अवस्था' कहते हैं। ये अवस्थायें पाँच होती हैं—जिनका नाम आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम है। फल-प्राप्ति की उत्कंठा को 'आरम्भ' कहते हैं। फल-प्राप्ति के निमित्त जो कुछ प्रयत्न किये जाते हैं, वही यत्न है। फल-प्राप्ति की सम्भावना को प्राप्त्याशा कहते हैं। प्राप्ति जब निश्चय में बदल जाती है तब नियताप्ति की अवस्था आती है। फल की सम्पूर्ण प्राप्ति को 'फलागम' कहते हैं।
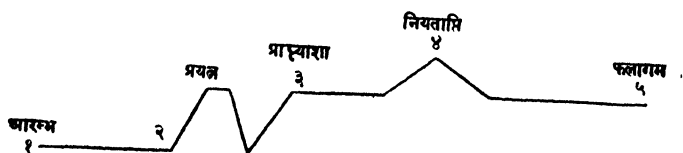
अर्थ-प्रकृति

कथावस्तु को प्रधान फल की सिद्धि की ओर निरंतर सहायता पहुँचाने वाले चमत्कार पूर्ण अंशों को अर्थ-प्रकृति कहते हैं। ये भी संख्या में पाँच होती हैं :

१. बीज, २. विन्दु, ३. पताका, ४. प्रकरी, ५. कार्य।

बीज में ही फल निहित होता है। उसी प्रकार नाटक के बीज में ही उसके फल की प्राप्ति होती है। प्रारम्भ में इसका रूप छोटा होता है किन्तु आगे चलकर इसका विस्तार नाटक में नाना रूपों में छा जाता है। किसी कथा के समाप्त हो जाने पर मूल कथा के साथ उसे जोड़ देने वाले हेतु को विन्दु कहते हैं। पताका और प्रकरी की विवेचना ऊपर हो चुकी है। प्रधान साध्य जिसके लिये सब साधन जुटाये जाते हैं उसे 'कार्य' कहते हैं।

संधि

अवस्थाओं के अनुसार संधियाँ पाँच मानी गई हैं। इनका नाम क्रमशः इस प्रकार है :—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण (उपसंहार)।

बीज और आरम्भ को मिलाने वाली संधि को 'मुख' कहते हैं। इससे बहुत से रसों की निष्पत्ति होती है। मुख संधि में उत्पन्न बीज कभी प्रकट और कभी अप्रकट रहता है। वहाँ प्रतिमुख संधि होती है। इस प्रकार बीज का प्रस्फुटन होता है और घटना क्रम अग्रसर होता है। जिस संधि में उपाय कहीं दब जाय और उसकी खोज के निमित्त बीज का और विकास हो उसे गर्भ संधि कहते हैं। इसमें बीज का विशेष विस्तार होता है। फलतः विफलता की आशंका रहते हुये भी सफलता की सीढ़ी नजर आने लगती है। गर्भ संधि में प्राप्त्याशा और पताका का योग अनिवार्य है। जहाँ फल का उपाय विकसित तो हो जाय किन्तु विघ्न बाधाओं के आ जाने पर उसमें व्याघात उत्पन्न हो जाय वहाँ 'विमर्श' संधि होती है। इसमें नियताप्ति और प्रकरी की संधि होती है। निर्वहण संधि में कार्य, फलागम का समन्वय होकर नाटक पूर्णता को प्राप्त होता है। यहाँ पर प्रधान अर्थ की समाप्ति हो जाती है अतः इसका नाम निर्वहण पड़ा।
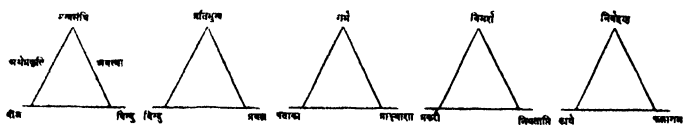
वस्तु विन्यास के (चाहे वे प्रख्यात, उत्पाद्य या मिश्र हों) दो भेद हो जाते हैं : एक वह जो मंच पर घटित होता हुआ प्रदर्शित किया जाय; दूसरा वह जिसे वास्तव में मंच पर प्रदर्शित न करके पात्रों द्वारा उसकी सूचना दिला दी जाय। इसे सूच्य कहते हैं जैसे मृत्यु, युद्ध, रमण, दाँत काटना, मलत्याग, अधर चुम्बन (स्त्री-पुरुष), भोजन, स्नान इत्यादि को मंच पर दिखाने से रस में बाधा पड़ती है।

सूच्य वस्तु की सूचना देने के पाँच साधन हैं, इनको **अर्थोपेक्षक** कहते हैं :

१. विषकंभक—वह दृश्य है जिसमें दो पात्र अतीत और भविष्य की घटनायें सूचित करते हैं। ये पात्र मध्यम श्रेणी के होते हैं। यह नाटक के प्रारम्भ या दो अंकों के बीच आ सकता है। इसके दो भेद होते हैं : शुद्ध और शंकर। जिसमें उत्तम श्रेणी के पात्र शुद्ध संस्कृत बोलते हैं वह शुद्ध और जिसमें मध्यम या निम्न श्रेणी के पात्र संस्कृत के साथ जन भाषा या प्राकृत का उपयोग करें, उसे शंकर कहते हैं।

२. प्रवेशक—विषकंभक की ही भाँति होता है। पर यह केवल दो अंकों के बीच में आता है। इसमें छूटी हुई बातों का मेल मिलाने के लिये निम्न पात्रों द्वारा सूचना देने का विधान है।

३. चूलिका—परदे के पीछे से जब किसी घटना की सूचना दी जाती है तो उसे चूलिका कहते हैं।

४. अंकावतार—किसी अंक के अंत में आगामी घटना की जो सूचना दी जाती है और उसी के अनुसार जब अगले अंक में घटनायें घटित होती हैं तो उसे अंकावतार कहते हैं।

५. अंकास्य—किसी अंक के अन्त में जहाँ बाहर जाते हुये पात्र

द्वारा अगले अंक में होने वाली कथा की सूचना दिलाई जाती है तब उसे अंकास्य कहते हैं।

नाटक की कथावस्तु कपोपकथन के रूप में ही रहती है। उसके तीन भेद होते हैं: सर्वश्राव्य, नियतश्राव्य और अश्राव्य। किसी पात्र की उक्ति को रंगशाला में उपस्थित यदि सब पात्र सुनें तो उसे सर्वश्राव्य कहते हैं। यदि उनमें से कुछ ही सुनें तो उसे नियतश्राव्य कहते हैं। जब कहने वाला पात्र स्वयं सुने और अन्य पात्र उससे वंचित रहें तो उसे अश्राव्य कहते हैं। अश्राव्य को ही स्वगत भी कहते हैं। नियतश्राव्य के भी दो भेद होते हैं—जनांतिक और अपवारित। कुछ पात्रों से बचाकर उँगलियों की ओट करके दो पात्रों का गुप्त बातचीत करना जनांतिक है। अपवारित में जिस पात्र से बात छिपानी हो उसकी ओर से मुँह फेरकर बात कही जाती है। इन तीनों के अतिरिक्त एक आकाश भाषित भी होता है—इसमें पात्र आकाश की ओर मुँह उठाकर किसी कल्पित व्यक्ति से इस प्रकार बातें करता है जैसे वह व्यक्ति प्रत्यक्ष रूप में उपस्थित ही हो।

पात्र

नाटक के मुख्य पात्र को नेता या नायक कहते हैं। कथा का फल जिस पात्र से अटूट रूप से सम्बन्धित हो तथा श्रोता, पाठक या दर्शक जिसके चरित्र में अत्यधिक रुचि रखते हों वही नायक कहलाता है। धनंजय के अनुसार नायक को विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रियंवद, शुचि, लोकप्रिय, उच्चवंशज, स्थिरचित्त, युवा, बुद्धिमान, प्रज्ञावान, स्मृति वाला, उत्साही, कलाकार, शास्त्रज्ञ, स्वाभिमानी, शूर, दृढ़, तेजस्वी और धार्मिक होना चाहिये।*

*नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः।
रक्त लोकः शुचिर्वाग्मी रूढ़वंशः स्थिरो युवा॥
बुद्धयुत्साह स्मृतिप्रज्ञा कलामान समन्वितः।
शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्र चक्षुश्च धार्मिकः॥

स्वभाव भेद से नायक चार प्रकार के माने गये हैं : शांत, ललित, उदात्त और उद्धत। नायक को सर्वगुण सम्पन्न माना गया है। अतः चारों धीर होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक के पहले धीर जुड़ जाने से धीर प्रशान्त, धीर ललित, धीरोदात्त, और धीरोद्धत हो जाता है।

दशरूपक के अनुसार धीरोदात्त नायक का लक्षण निम्नलिखित है :—

महासत्वोऽतिगम्भीरः क्षमावान विकत्थनः।
स्थिरो निगूढाहंकारो धीरोदात्तो दृढ़व्रतः॥

अर्थात् बहुत गम्भीर, क्षमावान, आत्म प्रशंसा न करने वाला, अहंकार रहित और दृढ़व्रती नायक धीरोदात्त कहा जाता है। इसके उदाहरण श्री रामचन्द्र और युधिष्ठिर हैं।

धीर ललित नायक—कलाविद, मृदु स्वभाव वाला, तथा शृङ्गार रस में विशेष अनुरक्ति दिखाने वाला नायक धीर ललित कहलाता है। शकुन्तला का 'दुष्यन्त' इसी के अन्तर्गत आता है।

धीर प्रशान्त—यह क्षत्रियेतर ब्राह्मण या वणिक होता है, स्वभाव का शांत और मृदु जैसे 'मालती माधव' का 'माधव'।

धीरोद्धत नायक—यह शूर, असहिष्णु, आत्मप्रशंसक, उद्दण्ड, और घमंडी होता है—जैसे रावण, परशुराम, दुर्योधन आदि।

प्रत्येक नायक के उसके स्त्री के प्रति व्यवहार के अनुसार चार भेद किये गये हैं : अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट।

अनुकूल—एक ही पत्नी में अनुरक्त रहने वाला नायक अनुकूल कहलाता है जैसे उत्तररामचरित के 'राम'।

दक्षिण—नायक के एक से अधिक पत्नियाँ रहती हैं। यद्यपि वह सब में अनुरक्त रहता है फिर भी उसे यह बराबर ध्यान रहता है कि प्रधान पत्नी को मेरा अन्य स्त्रियोंपर प्रेम प्रकट न हो जाय, जैसे शकुन्तला के 'दुष्यन्त' और मालविकाग्निमित्र के 'अग्निमित्र'।

शठ—इसका अन्य स्त्रियों पर प्रेम प्रकट हो जाने पर भी यह लज्जित नहीं होता।

धृष्ट—नायक अपनी प्रधान पत्नी की जानकारी में अन्य स्त्रियों से प्रेम करता है। उसे इस बात की चिंता या लज्जा नहीं आती कि उसकी प्रधान पत्नी उसके इस निम्न आचरण से दुखी होगी।

नायक का प्रतिद्वन्द्वी 'प्रतिनायक' कहलाता है। प्रासंगिक कथा-वस्तु का नायक जो नायक की सहायता करता है उसे पीठमर्द कहते हैं।

विदूषक—संस्कृत नाटकों में विदूषक हास्यावतार माना जाता है। प्राचीन नाटकों के विदूषक अधिक भोजन करने वाले ब्राह्मण हुआ करते थे। यह राजा का मित्र, सखा और सलाहकार भी होता था।

नायिका—शाब्दिक दृष्टि से नायक की पत्नी नायिका होती है और भारतीय नाट्य शास्त्र में नायक की प्रेयसी या पत्नी को नायिका कहा गया है। किन्तु आधुनिक नाट्य शास्त्र में यह नियम ढीला पड़ गया है। नाटक की कोई स्त्री पात्र जिसका नाटक में प्रमुख भाग हो, नायिका कहलाती है।

चरित्र-चित्रण

पात्रों का चरित्र चित्रण करने में नाटककार को अपनी ओर से कुछ कहने का न तो अधिकार है न साधन ही। पात्रों के चरित्र का विकास पारस्परिक सम्वादों द्वारा ही सम्भव हो सकता है। पात्र स्वयं अपने चरित्र पर प्रकाश डाल सकते हैं। इसके निमित्त स्वगत कथन का उपयोग अस्वाभाविकता से बचते हुए किया जा सकता है अथवा अन्य पात्रों द्वारा चरित्रगत विशेषतायें दर्शकों के समक्ष रखी जा सकती हैं। पात्रों के क्रिया कलाप द्वारा ही उनका चारित्रिक विकास किया जा सकता है।

रस

भारतीय नाटकों में रस की प्रमुखता को विशेष स्थान दिया गया है। विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी (संचारी) भावों के समन्वय से ही रस की निष्पत्ति होती है। बिना किसी आलम्बन के रस के स्थायी भावों का प्रभाव दर्शकों पर नहीं पड़ता। अतः रस के आलम्बन नाटक के विभिन्न पात्र होते हैं। स्थायी भाव को उद्दीप्त करने के लिये परिस्थितियों की आवश्यकता अनिवार्य है। उद्दीपनों के सहयोग से ही स्थायी भाव का बीज अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित होकर फल देता है। जिसके प्रति कोई भाव उठता है उसे 'आलम्बन' कहते हैं और जहाँ इस मानसिक स्थिति का स्पष्टीकरण होता है उसे 'आश्रय' कहते हैं। आलम्बन में दिखाई देने वाली चेष्टायें 'अनुभाव' कहलाती हैं। रस का आनन्द किस प्रकार मिलता है इसके विषय में चार मत हैं :

१. लोल्लट का उत्पत्तिवाद;
२. शंकुक का अनुभूतिवाद;
३. भट्टनायक का युक्तिवाद;
४. अभिनव गुप्त का अभिव्यक्तिवाद।

उत्पत्तिवाद के विषय में कहा जाता है कि दर्शकगण अभिनेता के अभिनय में ही रस की प्रतीति कर आनन्द-मग्न हो जाते हैं। रस का स्वत: उनके हृदय पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। युक्तिवाद में कहा गया है कि रस न तो अनुमान का विषय है न प्रतीति का। इसमें शब्दों के तीन कार्य माने गये हैं :—अविद्या, भावना तथा भोगी कृति। प्रथम से साधारण अर्थ का ज्ञान; द्वितीय से नटों द्वारा दिखलाये गये वास्तविक पात्र गण का वैयक्तिक ज्ञान मिलकर साधारण ज्ञान रह जाता है; तृतीय से उसका पूर्ण आनन्द, जो ब्रह्मानन्द के सदृश है, दर्शकों को मिलता है। अभिव्यक्तिवाद उक्त तीनों कार्यों में से केवल तीसरे को मानता है।

नाट्यशास्त्र में स्थायी भाव माने गये हैं—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और शम। इन स्थायी भावों से क्रमशः शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शांत रसों की निष्पत्ति होती है।

अभिनय

नाटक का प्रधान अङ्ग अभिनय है। नाटकीय वस्तु की पूर्ण अभिव्यक्ति को ही अभिनय कहते हैं।

अभिनय के चार प्रकार माने गये हैं :*

१. आङ्गिक, २. वाचिक, ३. आहार्य, ४. सात्त्विक।

आङ्गिक—अभिनय का सम्बन्ध शरीर के भिन्न-भिन्न अवयवों से रहता है। इसके तीन भेद हैं—कायिक, मुखज और चेष्टाकृत। शरीर के भिन्न-भिन्न अङ्गों का हिलाना डुलाना कायिक के अन्तर्गत आता है। 'मुखज' में मुख चेष्टा द्वारा अभिनय किया जाता है और चेष्टाकृत अभिनय के अन्तर्गत तैरना और घुड़सवारी इत्यादि का अभिनय होता है। इसी आङ्गिक अभिनय के अन्तर्गत ही भिन्न भिन्न नृत्यों की भी गणना होती है।

२. **वाचिक**—वाचिक अभिनय से आङ्गिक अभिनय अधिक स्पष्ट हो जाता है। प्राचीन समय में बड़े और छोटे का श्रेणी विभाजन वाचिक अभिनय से बहुत स्पष्ट हो जाता था। राजा को ऋषि लोग राजन् तथा ऋषि को राजा लोग महर्षि कहते थे। इसी तरह बौद्धों को भदन्त कहते थे।

३. **आहार्य**—अभिनय में वेश-भूषा का अनुकरण प्रधान होता है।

---

* आङ्गिको वाचिकश्चैव आहार्यः सात्त्विकस्तथा।
सेयस्त्वभिनयो विप्राश्चतुर्धा परिकल्पितः॥

अलग-अलग श्रेणी और वर्ण के लोग अलग-अलग रंगों और आभूषणों से सजाये जाते थे। युवराज और सेनापति को आधे मुकुट पहिनाने का नियम है। ब्राह्मण देवता और उच्च वर्ण के लोग गौर वर्ण के होते थे। सेवकों की पहचान के लिये उनकी भिन्न पोशाक थी।

४. सात्त्विक—सात्त्विक अभिनय का सम्बन्ध मूलतः भावों से रहता है। स्वेद, रोमांच, कंप, स्तंभ, अश्रुप्रवाह आदि के द्वारा अवस्थानुकरण को ही सात्त्विक अभिनय कहा गया है। सात्त्विक भावों का अभिनय साधारणतया बहुत कठिन है।

वृत्तियाँ

नाटकों में पात्रों के कार्य को सुचारु रूप से कराने को ही वृत्ति कहते हैं। नाट्यशास्त्र के अनुसार वृत्तियाँ चार मानी गई हैं: कैशिकी, सात्वती, आर्भटी तथा भारती।

१. कैशिकी—इसका सम्बन्ध शृङ्गार और हास्य से है। इसमें गायन, वादन, नृत्य इत्यादि की बहुलता होती है। इसकी उत्पत्ति सामवेद से मानी जाती है।

२. सात्वती—इसका सम्बन्ध वीर, अद्भुत तथा रौद्र रस से है। इसके व्यापार में साहस, दया, त्याग, सत्यता आदि को महत्त्व दिया गया है। इसकी उत्पत्ति यजुर्वेद से मानी गई है।

३. आर्भटी—भयानक, रौद्र तथा वीभत्स के अनुकूल होती है। इसके व्यापार में संग्राम, क्रोध, माया, जादू इत्यादि की बहुलता रहती है। इसकी उत्पत्ति अथर्ववेद से मानी जाती है।

४. भारती—इसका संबन्ध पुरुष नटों से है। इसमें स्त्रियों की गुञ्जाइश नहीं रहती। इसका संबन्ध शब्दों से होने के कारण इसे भारती कहा गया है। भरत मुनि ने इसका संबन्ध करुण और अद्भुत से जोड़ा है। इसकी उत्पत्ति ऋग्वेद से बतलाई जाती है।

पूर्वी एवं पश्चिमी नाटकों की तुलनात्मक समीक्षा

भारतीय, यूनानी तथा अँग्रेजी—सभी विद्वान् नाटक के विषय-चयन पर एकमत हैं। विषय की हीनता एवं महानता पर नाटक की हीनता अथवा महानता निर्भर करती है। संस्कृत के आचार्यों ने विषय-चयन के निमित्त नाटकों की परिधि को सुखान्त की रेखा से ही सीमित रखा; अन्य विषयों को नाटक से बाहर फेंक दिया।

जर्मन, अँग्रेजी, यूनानी तथा भारतीय आचार्यों ने नाटक के निमित्त अभिजात वर्ग के मनुष्यों से सम्बन्धित कथाओं को ही नाटकीय प्रभाव के उपयुक्त समझा। अभिज्ञान शाकुन्तल, धनंजय विजय, कर्पूर मंजरी, उत्तररामचरित, मालती माधव, मुद्राराक्षस, सत्य हरिश्चन्द्र इत्यादि भारतीय नाटक श्रेष्ठ मनुष्यों की जीवनी पर ही आधारित हैं। अँग्रेजी में हैमलेट, मैकबेथ, ओथेलो, जूलियस सीजर, किंग लियर इत्यादि नाटक भी उच्च वर्गों के मनुष्यों पर ही आधारित हैं। यूनानी नाटकों में इडियस, मिडिया, ऐन्टीगनी, आयोन सभी श्रेष्ठ वर्ग के ही कथानक हैं।

प्राचीन आलोचकों का सम्भवतः यह सिद्धांत था कि श्रेष्ठ वर्ग के मनुष्यों को नाटक की आधार-शिला बनाने पर उनका प्रभाव साधारण जन समुदाय तथा उच्च वर्ग के लोगों पर समान रूप से पड़ेगा। जितना ही बड़ा मानव होगा उसका नाटकीय उत्थान या पतन उतना ही प्रभावोत्पादक तथा गम्भीर होगा।

भारतीय नाटकों में दुःखांत और सुखांत नाटक जैसा श्रेणी-विभाजन नहीं है। इन नाटकों में सुख-दुःख; विरह-मिलन; हर्ष-शोक इत्यादि जीवन के द्वन्द्व साथ-साथ दिखाये गये हैं। इन सब भावों का सम्मिलित रूप इस प्रकार दिखाया गया है कि सब का अवसान आनन्द में ही होता है। एक शब्द में कहा जा सकता है कि भारतीय नाटक अधिकांश में मिश्रितांकी ही रहे हैं।

जब कि पश्चिमी नाटक दुःखांत पर अधिक जोर देते रहे हैं, भारतीय नाटकों का आरम्भ और अंत आशीर्वादात्मक श्लोकों से भरा-पूरा रहता था। किन्तु पश्चिमी नाटकों में इनका सर्वथा अभाव रहा है। भारतीय नाटकों में मानव के साथ-साथ प्रकृति का भी समावेश पाया जाता है, जब कि पश्चिमी नाटकों में केवल मानव की प्रधानता रही है। भारतीय नाटकों में रसों का सम्यक विकास करने के लिये प्रगीतात्मक, मुक्तक पद्य तथा कथात्मक वर्णन का भी सहारा लिया गया है। संस्कृत नाटक अधिकांश में करुण, वीर या शृङ्गार रस प्रधान रहे हैं—यद्यपि बीच-बीच में अद्भुत, रौद्र और अन्य रसों का भी उद्रेक कराया गया है, किन्तु उनका अस्तित्व सम्पूर्ण नाटक को नहीं घेरता। भारतीय समाज सदैव से आदर्शवादी और अध्यात्मवादी रहा है, अतः नाटकों में पाप पर पुण्य की, असत् पर सत् की, दुःख पर सुख की, शोक पर हर्ष की विजय कराई गई है।

प्रसिद्ध समालोचक कीथ कालिदास की नाट्य रचना पर अपना मत प्रकट करते हुये कहते हैं कि "यद्यपि जर्मनी के महाकवि गेटे तथा अँग्रेजों में सर विलियम जोन्स ने कालिदास की मुक्त-कंठ से प्रशंसा की है—फिर भी कालिदास ने ब्राह्मण वर्ग के प्रति अपनी सहज सहानुभूति दिखा कर एक प्रकार से हृदय की संकीर्णता ही दिखाई है। उनके विश्वास से इस जगत के बाहर एक ऐसी अदृष्ट शक्ति है जो सृष्टि को नियंत्रित और शासित करती रहती है। अतः उनके नाटक बहुजन हिताय बहुजन सुखाय न बनकर विशेष वर्ग के लिये ही सीमित हो गये हैं। बहुसंख्य दीनों की करुण पुकार और उनके अन्याय सुनने के लिये कालिदास के कान बंद थे। वह अपनी ब्राह्मण दार्शनिकता की संकुचित परिधि से ऊपर न उठ पाये।" कीथ विद्वान समालोचक हैं। इनके इस आक्षेप के उत्तर में विषयांतर हो जाने के भय से, इतना ही कहना पर्याप्त समझता हूँ कि उनकी संकुचित दृष्टि में भारतीय नाटकों को परखने की

क्षमता नहीं है। वे पश्चिमी तुला पर भारतीय नाटकों को भी तौलते हैं। हमारे नाटकों में शकुन्तला, सीता, सावित्री, दयमंती, उत्तरा और द्रौपदी ऐसी नायिकायें हैं जिनकी समता उनकी इमोजन, जूलियट, डेस्डीमोना नहीं कर सकतीं। कीथ साहब के यहाँ सूर्पणखा और मंथरा अधिक मिलेंगी।

भारतीय नाटकों में रस को मुख्य स्थान दिया गया है, चरित्र चित्रण और कथावस्तु को गौण, जब कि पश्चिमी नाटकों में वस्तु को ही नाटक की रीढ़ माना है।

यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो प्रत्येक साहित्य का लक्ष्य आनन्द की सृष्टि करना होता है। इसलिये रस ही साध्य है और चरित्र-चित्रण तथा वस्तु साधन। बिना साध्य के साधन का क्या महत्व? पश्चिमी कलाकारों ने पेड़ के तने को नहीं डालों को अधिक महत्व दिया है। अरिस्टाटिल के मत से नाटक की प्रासंगिक कथावस्तु नाटक को बोझीला और दुरूह कर देती है। फलतः उसकी एकाग्रता नष्ट हो जायगी। किन्तु भारतीय नाटकों में प्रासंगिक कथाओं का विधान है। एक ही रस में आदि से अंत तक डूबे रहने पर दर्शक गण कुर्सी छोड़-छोड़ कर घर का रास्ता न नापें, इसलिये उनके मन को हलका करने के लिये प्रासंगिक कथाओं का योग वांछनीय है।

संकलन त्रय

प्राचीन यूनानी नाटकों में संकलन त्रय (वस्तु संकलन, स्थान संकलन और कार्य संकलन) को विशेष महत्व दिया गया है। यूनानी आचार्यों के मत से नाटक का सारा कार्य व्यापार एक ही दिन का, एक ही स्थान का होना अनिवार्य है और उसका कार्य व्यापार भी केवल एक हो। इस प्रकार प्रासंगिक कथाओं का विधान यूनानी नाटकों में नहीं है। यह नियम लगभग दो हजार वर्ष पुराना हो चुका है। उस युग का चाहे कितना

ही महत्वपूर्ण यह सिद्धान्त क्यों न रहा हो, आज के युग में जब बहुतेरी साहित्यिक रूढ़ियाँ जंग खाई हुई जंजीरों की तरह झनझना कर टूट रही हैं उसी प्रकार संकलन त्रय का भी जीव क्षय रोग से पीड़ित और जर्जरित हो करीब-करीब श्मशान तक पहुँच चुका है। उसका जितना भी चिन्ह आज अवशेष है वह आवश्यक और ग्राह्य है। आजकल प्रासंगिक कथावस्तुयें भी आधिकारिक कथावस्तु के साथ-साथ पूरे नाटक पर छाई रहती हैं—परन्तु वह प्रासंगिक कथा नाटकीय प्रभावों को तभी बढ़ावा दे सकती है जब वह अपना अस्तित्व खोकर आधिकारिक कथा-वस्तु में मिल जाय और जब तक जीवित रहे, सहयोग के लिये जिये विरोध के लिये नहीं।

प्रसिद्ध यूनानी तत्ववेत्ता अरस्तू ने यह नियम बना दिया था कि चौबीस घंटों में जो काम हुये हों उन्हीं का अभिनय नाटक में होना चाहिये। फिर फ्रान्स में चौबीस के बदले बीस घंटे का विधान बना। किन्तु नाटक साधारणतया तीन या चार घंटों में खेला जाता है। यदि वह अपने विशाल उदर में चौबीस या बीस घंटे को समेट सकता है तो साल दो साल क्यों नहीं? इसलिये यह नियम आज बेकार और बेतुका बन गया है। समय संकलन में इस बात का ध्यान अवश्य रखना होगा कि घटनाओं के बीच के समय का आभास दर्शकों को न हो। पहले होने वाली घटनाओं और दृश्यों का प्रदर्शन बाद में होने वाली घटनाओं एवं दृश्यों के पश्चात दिखाना सर्वथा असंगत है। नाटक का घटना क्रम और घटना-चक्र ऐसा सँजोया हुआ होना चाहिये कि दर्शकों का ध्यान समय की ओर जाने ही न पाये। यूनानी विद्वानों के अनुसार रंगशाला का दृश्य आदि से अंत तक एक ही होना चाहिये। नाटकीय अभिनय के बीच किसी प्रकार का दृश्य परिवर्तन वे अग्राह्य और दूषित समझते थे। यूनानियों के इस विधान में उनकी निज की कमजोरियाँ तथा आवश्यकतायें थीं जिससे बाध्य होकर उन्हें ऐसा नियम बनाना पड़ा। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि उसी

पुरानी लीक पर बिना सोचे समझे हम आज भी चलें और नाटकीय स्वाभाविकता को नष्ट करें। यूनानी नाटकों में प्रथम दृश्य से अंतिम दृश्य तक गवैयों की टोली रंगमंच पर ही जमी रहती थी जो आवश्यकतानुसार अपने आलापों द्वारा दर्शकों का मनोरंजन किया करती थी; और नाटक अबाध गति से बिना किसी विराम के आगे बढ़ता जाता था क्योंकि उसमें गर्भांकों का सर्वथा अभाव रहता था। इस नियम के पालन करने में अच्छे नाटकों की सृष्टि असंभव सी प्रतीत होती है—संभवतः इसीलिये भारतीय नाटक इस नियम से सर्वदा मुक्त रहे हैं।

दुःखान्त नाटक

हेगेल का कथन है कि "दुःखान्त नाटक जीवन में विश्वास और दृढ़ता पैदा करते हैं—निराशा और भय नहीं। गुण तथा अवगुण के द्वन्द्व से दुःखान्त की परिधि पूर्ण नहीं होती वह गुण के अन्तर्द्वन्द्व के कारण ही पूर्ण होती है।" शायेनहापर का कथन है कि दुःखान्त नाटकों में कला अपने विकास की चरम सीमा पर पहुँच जाती है। उसमें प्रदर्शित जीवन के भयावह स्थल का प्रभाव मानव-मन पर बड़ी देर तक जमा रहता है। हमारे दुःख तथा हमारी आपदायें हमारे ज्ञान का संशोधन करती हैं—जिससे जीवन में शांति मिलती है। अरस्तू का विचार था कि दुःखान्त नाटकों को देखने से अधिक आनंद मिलता है क्योंकि भय और करुणा के संचार से हमें अत्यधिक आनंद प्राप्त होता है। कालरिज के मत से दुःखात्मक नाटक में ही काव्य की आत्मा छिपी रहती है।

दुःखान्त नाटकों को देखने या पढ़ने से दर्शकों या पाठकों के मन में भय और करुणा का संचार होता है। यदि हम सज्जन पात्रों को सदैव सुखी और आनंद पूर्ण बनाते रहेंगे तो हम कभी भी भय और करुणा जाग्रत करने में सफल नहीं होंगे; क्योंकि जब हम यह जानते ही हैं कि पात्रों को चाहे कितना ही कष्ट सहना पड़े अंत में वे अवश्य सुखी और

धनधान्य से पूर्ण होंगे, तब हमारे मन में न तो भय उत्पन्न होगा और न करुणा। बस हमें एक प्रकार का संतोष होगा कि अंत तो आनंद पूर्ण हुआ चाहे आदि कैसा भी रहा हो। इसलिये प्रचीन लेखकों ने सांसारिक जीवन के अनुरूप ही अपने पात्रों का चित्रण किया है। उन्होने सज्जन पात्रों को कभी सुखी तो बनाया पर साधारणतः दुखी ही रहने दिया। सुखान्त भी प्रभाव पूर्ण हो सकते हैं परन्तु यह कहना कि केवल ऐसे ही नाटक श्रेष्ठ हैं—भ्रम मूलक है। दुःखान्त भी अत्यन्त प्रभाव पूर्ण होते हैं और कदाचित् उनमें अधिक श्रेष्ठ कला है।*

नाटक का मुख्य उद्देश्य आनन्द पूर्ण उत्कंठा का प्रसार करना है। मानसिक आनंद द्वारा चरित्र संशोधन की उत्कंठा ही उसका परम ध्येय है। दुःखांत नाटको का मुख्य लक्ष्य शिक्षा देना है। महान् लोगों के कार्यों और उनके अपराधों के दण्ड और यातना को उदाहरण स्वरूप हमारे समक्ष रखकर नाटककार हमें सन्मार्ग पर लगाता है। पाप के दुष्परिणाम और सत्कर्म के दैवी आदर्श वे हमारे सम्मुख रखते हैं।†

दुःखान्त नाटकों को देखने से मनुष्य की करुणा और भीति का भाव हृदय को मथकर बाहर आ जाता है। यदि भाव सर्वदा एक रस होकर हृदय को आलोड़ित करता रहे तो सम्भवतः मानव जीवन दूभर हो जाय। इस क्रिया को रेचन (Catharsis) कहते हैं। कुछ लोग इसके विपक्ष में कहते हैं कि हम उन भावों को निकालने नहीं जाते बल्कि उनका उपयोग अधिक मात्रा में छककर करना चाहते हैं।‡

---

* जोज़ेफ ऐडिसन—(दि स्पेक्टेटर)

† एन एसे आन ड्रैमेटिक पोयेजी—जान ड्राइडेन

नाटक की परख—डी० पी० खत्री

‡ F. L. Lucas—And so we go to tragedies not in the least to get rid of emotions, but to have them more abundantly, to conquer and to purge.

यों तो समस्त साहित्य से हमारे सामाजिक भावों की परितुष्टि होती है किन्तु नाटक दृश्य काव्य होने के नाते और प्रभावशाली होता है। नाटक के पात्रों से हमें किसी प्रकार की ईर्ष्या नहीं होती—अतः हम उनके दुःख में दुःखी और सुख में सुखी होते हैं। नाटकों को देखने से दर्शक रस में निमग्न हो जाता है। वह रस दुःखमय हो या सुखमय आनंददायक अवश्य होता है। प्राचीन भारतीय साहित्य में दुःखात्मक नाटक तो हैं किन्तु दुःखान्त नहीं। यद्यपि उनमें करुणा, दुःख संवेदना के भाव पर्याप्त मात्रा में भरे पड़े हैं किन्तु भारतीय नाटककार चाहते थे कि नाटक के अंत में दर्शकों को यदि हँसता हुआ घर भेजा जाय तो अच्छा है।

"दुःखान्त नाटकों में मनुष्य की सहनशीलता को देखकर हम में गर्व की भावना जाग्रत होती है और कभी-कभी हम अपने अपेक्षाकृत तुच्छ दुःखों को भूल जाते हैं। सुख में विलास की उन्नतता आती है और दुःख में सात्विकता का उदय होता है। इस दृष्टि से दुःखान्त नाटकों का महत्व अवश्य है, फिर भी उनके द्वारा हमारी ईश्वरीय न्याय की भावना में ठेस लगती है। भारतीय नाटककार इस भावना को ठेस नहीं पहुँचाते।"*

नाटक और उपन्यास—जहाँ तक उपन्यास और नाटक के विभिन्न तत्वों का संबन्ध है, दोनों लगभग एक से हैं। वस्तु, पात्र, कथोपकथन, देशकाल, शैली और उद्देश्य ये छः तत्व नाटक और उपन्यास दोनों में हैं। फिर भी उपन्यास और नाटक के तत्त्वों को समानता से ही समान नहीं कहा जा सकता। यदि ऐसा होता तो सम्भवतः नाटक और उपन्यास का नामकरण भिन्न भिन्न न होकर एक होता।

उपन्यास का रंगमंच उसी के भीतर रहता है—अतः पाठक अपने

---

* काव्य के रूप—श्री गुलाबराय

मनोरंजन के लिये उसमें सब उपादानों को टटोल लेता है। इसका रसास्वादन पढ़ कर ही किया जाता है और पढ़ने से ही पूर्ण रूपेण समझ सकते हैं—किन्तु नाटक दृश्यकाव्य है। इसका रङ्गमञ्च नाटक के बाहर होता है—अतः केवल पढ़ कर ही इसका पूर्ण उपयोग हम नहीं कर सकते। उपन्यास में लेखक घटनाओं का वर्णन विश्लेषणात्मक ढंग से करता है और आवश्यकतानुसार अपनी ओर से भी कुछ जोड़ देता है। पात्र जहाँ किसी चरित्र या घटना पर प्रकाश डालने में असमर्थ हो जाते हैं—वहाँ लेखक स्वयं उनकी सहायता करता है। अतः समझने में कठिनाई नहीं होती—किन्तु नाटककार को अपनी ओर से कुछ कहने का न तो अधिकार ही है न गुंजाइश। इसलिये नाटक के अंग-अंग का विकास उसके प्रदर्शन से ही होता है।

उपन्यासकार को उपन्यास की सीमा रेखा बनाने के लिये पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है। कथावस्तु और घटनाचक्र उपन्यास को बड़ा से बड़ा रूप दे सकते हैं। किन्तु नाटककार अपनी सीमाओं में बँधा हुआ है। उसे निश्चित समय के भीतर ही प्रदर्शनीय बनाना पड़ता है। उपन्यास के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह एक ही बैठक में समाप्त हो जाय—पाठक सुविधानुसार उसे पढ़ने में दस-पाँच दिन भी लगा सकता है—फिर भी उसका सौंदर्य अक्षुण्ण बना रहता है, किंतु नाटक को निश्चित समय के भीतर ही दिखाना अभीष्ट है। इसलिये नाटक का क्षेत्र उपन्यास से संकुचित किंतु अधिक प्रभावशाली होता है। नाटककार अपने नाटक की सीमाओं से बँधा होने के कारण केवल मुख्य और आवश्यक घटनाओं का ही समन्वय कर पाता है—अनावश्यक और गौण कथाओं को छोड़ देता है। नाटक का स्पष्टीकरण पात्रों के अभिनय द्वारा ही सम्भव है किंतु उपन्यास का वर्णन तो उपन्यासकार कथा के रूप में ही कर देता है जिसे समझने में विशेष दिमागी कसरत नहीं करनी पड़ती।

पात्रों के चरित्र-चित्रण में उपन्यासकार अपने पात्रों से मिलकर बातें

कर सकता है। उनके चरित्र का विकास स्वयं करता है, पात्रों के भरोसे वह नहीं रहता। अपने पात्रों का वह न्यायाधीश होता है---अत: उनके चरित्रगत गुण और दोषों की पूरी व्याख्या करता हुआ पाठक को अपने साथ लिये रहता है। किंतु नाटककार एक तटस्थ दर्शक की भाँति एक कोने में खड़ा रहता है। उसके पात्र क्या करते हैं, कैसे बोलते हैं उसमें वह हस्तक्षेप नहीं कर सकता। चरित्रगत दुरूहताओं को उपन्यासकार स्वयं सुलझा देता है किंतु नाटककार पूर्ण असमर्थ बन कर ऐसी अवस्था में अपने पात्रों का मुख ताकता रहता है। इन सब कारणों से उपन्यासकार का व्यक्तित्व किसी न किसी रूप में उसके उपन्यास पर छाया रहता है और कभी-कभी तो ऐसा प्रतीत होता है कि अमुक पात्र स्वयं लेखक ही है। यद्यपि व्यक्तित्व की छाप नाटक पर भी पड़ती है परन्तु परोक्ष रूप से—जैसे जयशंकर 'प्रसाद' के व्यक्तित्व की छाप उनके दार्शनिक विचार वाले पात्रों पर खूब पड़ी है। नाटककार अपने पात्रों का चरित्र-चित्रण पात्रों द्वारा ही करता है, इसलिये नाटक में कथनोपकथन का होना अनिवार्य है। किन्तु उपन्यास में ऐसा कोई बंधन नहीं है। चारित्रिक विकास के लिये उपन्यासकार पात्रों का सहारा ले सकता है और स्वयं भी कुछ कह सकता है। चरित्र-चित्रण नाटक का बहुमूल्य तत्व है, इसके अभाव में नाटक का निर्माण असंभव-सा हो जाता है किंतु उपन्यास चरित्र प्रधान न होकर घटना प्रधान भी हो सकते हैं। उपन्यास के चरित्र-चित्रण में विश्लेषात्मक और अभिनयात्मक इन दोनो उपायों का सहारा लिया जा सकता है। विश्लेषात्मक प्रणाली में उपन्यास-लेखक अपने पात्रों के अन्तर्गत भावो एवं विचारों को स्वयं व्यक्त करता है। किंतु नाटककार चरित्र-चित्रण के लिए केवल अभिनयात्मक रूप ही अपना सकता है। अतः नाटक के चरित्र-चित्रण में विशेष सावधानी और कौशल की आवश्यकता पड़ती है।

उपन्यास और नाटक शेष साहित्यिक अंगों की भाँति जीवन की

व्याख्या करते हैं। नाटककार प्रत्यक्ष रूप से जीवन की व्याख्या करता है किंतु उपन्यास लेखक प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों उपायों को काम में लाता है।

महाकाव्य, नाटक और उपन्यास—यद्यपि तीनो की उत्पत्ति में मानव और उसका जीवन प्रधान माना गया है किन्तु तात्विक दृष्टि से तीनों में अंतर है। महाकाव्य में चरित्र एक से अधिक होते हैं किन्तु चरित्र-चित्रण काव्य-चमत्कार से दब जाता है। कवि घटनाओं को, मानव प्रवृत्तियों को तथा प्रकृति वर्णन को विशेषता देता है। उपन्यास में कई चरित्रों का समावेश एक कथा में किया जाता है। अतः उपन्यास का आधार उसकी कथावस्तु होता है। (यों तो वर्तमान युग में 'शेखर: एक जीवनी' (अज्ञेय) इसका अपवाद स्वरूप है।)

नाटक तो उपन्यास और महाकाव्य के बीच की वस्तु है। इसमें कथा भी चाहिये और काव्य भी। महाकाव्य और उपन्यास नियमों के शिकंजे में उतने नहीं जड़े होते जितने कि नाटक।

———

श्री लक्ष्मी नारायण मिश्र का बुद्धिवाद

नार्वे निवासी हेनरिक इब्सन समस्यामूलक नाटकों का जन्मदाता कहा जाता है। इब्सन प्राचीन जर्जरित रूढ़ियों (चाहे वे सामाजिक हों या धार्मिक अथवा राजनीतिक) के विद्रोह में एक अखंड निष्ठा और यथार्थता लेकर खड़ा हुआ। इसने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का पोषण करते हुए, नाटक की पिटी-पिटाई पुरानी सड़कों पर भी बम्बार्ड किया। प्राचीन आदर्शवादी, रोमांचवादी तथा पुरातनवादी सभी प्रकार के नाटकों को बाजीगर का खेल बताते हुए अव्यावहारिक तथा असामयिक सिद्ध करके नवीन नाट्य-प्रणाली का कठोर टीला तोड़ा। प्रो० विनयमोहन शर्मा के अनुसार इब्सनवादी नाटकों की निम्न विशेषताएँ हैं :—*

१. उनमें धीरोदात्त या धीर ललित, उच्चकुल-सभूत पात्रों को ही केन्द्र-बिन्दु (नायक-नायिका) नहीं बनाया जाता। उनमें समाज के निम्न से निम्न स्तर के भी व्यक्ति नायकत्व प्राप्त कर सकते हैं।

२. नाटक की कथावस्तु वर्तमान समाज-जीवन की आतुर समस्या को लेकर चलती है। इस तरह जनता और कला में दूरी का आभास नहीं रहता। समाज अपने रूप के जीवन-क्रम को प्रत्यक्ष देखकर हिल उठता है और नाटक में प्रतिपादित समस्या के हल पर सोचने-विचारने लगता है।

३. उनमें नाटककार की ओर से रगमंच पर पात्रों के प्रवेश, उनके

---

* दृष्टिकोण, पृ० ६६

रूप-रंग वर्णन, दृश्य आदि के संकेत दिये जाते हैं, जिनसे यथार्थता की प्रतीति होती है।

४. भाषा काव्यमय न होकर सरल और सीधी होती है। दैनिक जीवन में व्यवहृत बोली का आश्रय लिया जाता है। इस प्रकार वह नाटककार की भाषा न बनकर सब की बोली बन जाती है।

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात्, हम इब्सन के परम भक्त पं० लक्ष्मी नारायण मिश्र के समस्यामूलक नाटकों की समीक्षा करेंगे—किन्तु यह समीक्षा लेखक की भूमिका (सन्यासी, राक्षस का मंदिर तथा मुक्ति का रहस्य) पर विशेष आधारित होगी। स्थल-संकोच के भय से उनके नाटकों की विशद समीक्षा न करके केवल समीक्षा की ओर संकेत मात्र कर देना चाहता हूँ। और साथ ही साथ मेरा लक्ष्य यह दिखलाना होगा कि मिश्र जी के नाटक उनकी भूमिका के अनुरूप नहीं लिखे गये। फिर भी—इतने बड़े नाटककार को उनके परम प्रिय अंधभक्त शिष्यों ने प्रशंसा के हवाई किले पर बैठा कर हिन्दी साहित्य का महान् अहित किया है। मिश्र जी की अहम्मन्यता का पोषण करते हुये बुराइयों पर पर्दा डाला गया है जिससे नाटककार की प्रतिभा कुंठित-सी हो गई और वह घोर बुद्धिवादी बनते-बनते महान् भावुक और आदर्शवादी बन गया।

मिश्र जी के लिखे दस नाटक प्रकाशित हो चुके हैं :—१. अशोक, २. सन्यासी, ३. राक्षस का मंदिर, ४. मुक्ति का रहस्य, ५. राजयोग, ६. आधीरात, ७. सिन्दूर की होली, ८. गरुड़ ध्वज, ९. दशाश्वमेध, १०. वत्सराज और दो एकांकी संग्रह (१) 'अशोक वन' जिसमें पाँच ऐतिहासिक और पौराणिक एकांकी संग्रहीत हैं—अशोक वन, कौशाम्बी, विदिशा, भविष्य का गर्व, तथा दशाश्वमेध और (२) 'प्रलय के पंख पर' जिसमें छः सामाजिक एकांकी संग्रहीत हैं—प्रलय के पंख पर, बालू से तेल, धरती के नीचे, मेड़ तोड़ दी, गंगा की लहरें तथा चकाचौंध।

उपर्युक्त दस नाटकों में दो से सात तक समस्या नाटक हैं और प्रलय के पंख पर में संग्रहीत सारे एकांकी समस्या नाटक के अन्तर्गत आ सकते हैं।

समस्यामूलक नाटकों की प्रथम विशेषता की कसौटी पर मिश्र जी के नाटक बिल्कुल खोटे उतरते हैं। मिश्र जी ने निम्न कोटि के पात्रों के चरित्र-चित्रण से बिल्कुल मुँह फेर लिया है। उनके प्रायः प्रत्येक नाटक में मुख्य पात्र अभिजात वर्ग के ही रहे हैं : सन्यासी के मुख्य पात्र :— मालती (कालेज की छात्रा), प्रो० रमाशंकर (मालती के उम्मीदवार), विश्वकान्त और सुधाकर (मालती के सहपाठी), प्रो० दीनानाथ (अपटु डेट किरणमयी के पति) तथा पत्र सम्पादक मुरलीधर; राक्षस का मंदिर :—रामलाल (एक प्रसिद्ध वकील), रघुनाथ (रामलाल का लड़का), मुनीश्वर (रामलाल का मित्र), दौलतराम (रोजगारी महाजन), अशगरी (रामलाल की वेश्या), दुर्गा (मुनीश्वर की स्त्री), ललिता (रघुनाथ की प्रेमिका) तथा मुखिया; मुक्ति का रहस्य के मुख्य पात्र :—उमाशंकर शर्मा (आई० सी० एस० परीक्षा-पास), त्रिभुवननाथ (डाक्टर), बेनीमाधव (वकील), काशीनाथ (उमाशंकर के चाचा) तथा आशा देवी; राजयोग के मुख्य पात्र :—नरेन्द्र (चम्पा का प्रेमी और सहपाठी), शत्रुसूदन (राजा), रघुवंश (नरेन्द्र के पिता और शत्रुसूदन के दीवान) तथा चम्पा देवी और गजराज; आधीरात के मुख्य पात्रः—१. प्रकाश चन्द्र, २. राघवशरण, ३. राधाचरण और ४. मायादेवी; सिन्दूर की होली के मुख्य पात्र :—१. मुरारी लाल, २. रजनीकांत, ३. मनोजशंकर, ४. भगवंतसिंह, माहिरअली, चन्द्रकला तथा मनोरमा।

अशगरी, गजराज, माहिरअली तथा मुखिया को छोड़कर शेष पात्र और पात्रायें उच्च मध्यम वर्ग की हैं। इसी प्रकार इनके एकांकी नाटकों के भी पात्र हैं। मेड़ तोड़ दी एकांकी को छोड़कर शेष सभी एकांकियों के पात्र उच्च मध्यम वर्ग के हैं।

कथावस्तु में मिश्र जी ने केवल नारी-समस्या को ही प्रधानता दी है। 'नारी' के गर्भ से इन्होंने छः समस्या नाटकों को पैदा किया। इन समस्याओं में इब्सन का प्रभाव गौण और फ्रायड का प्रभाव विशेष रूप से परिलक्षित होता है। इन समस्याओं का जन-जीवन में स्थान होते हुए भी इन्हीं का महत्व नहीं है। नारी के अतिरिक्त और बहुत सी समस्यायें समाज में पाई जाती हैं जिनकी ओर देखने का अवकाश नाटककार को नहीं मिला। और जिन नारी समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न किया है उन्हें और उलझा कर छोड़ दिया है। तीसरी और चौथी विशेषताओं का वर्णन आगे करूँगा। अब हम उनकी भूमिका को आधार बना कर उनके समस्या नाटकों की समीक्षा करेंगे।

अश्लीलता और दुराचार

मिश्र जी के कतिपय नाटकों से अश्लीलता और दुराचार की जो तीव्र दुर्गन्ध आती है, वह भारतीय नाट्य परम्परा तथा मर्यादा की दीवाल तोड़कर एक घिनौना वातावरण उत्पन्न करती है। 'राक्षस का मंदिर' में रामलाल और मुनीश्वर अशगरी को बार-बार छाती से लगाते तथा उसके ओंठ पर ओंठ रखते हैं; यहाँ तक कि एक मैथुन (आठों में मुख्य) को छोड़कर सब कुछ रंगमंच पर होता है :

(पृ० २६) मुनीश्वर उठकर उसका (अशगरी) हाथ पकड़ता है, अपनी ओर खींच कर छाती से लगाता है—मुँह से मुँह ओंठ से ओंठ।

(पृ० ३६) अशगरी तेजी से उठकर अपने ओंठ से मुनीश्वर का ओंठ छू लेती है।

अशोक (पृ० २४) एँटीपेटर डायना के ओंठ चूम लेता है।

अशोक (पृ० ६६)—देवी (अशोक की पत्नी) और अशोक के सम्वाद सुनिये :—

देवी—(अशोक का हाथ पकड़कर आग्रह से) चलो, सोने चलें।

महीनों बीत गए, रात को कभी तुमसे भेंट नहीं हुई। आज अकेली न सोऊँगी--

× × ×

देवी--चलो सोने चलें--कल मिल लेना।

अशोक--नहीं, यह नहीं हो सकता। (प्रस्थान)

देवी--'नहीं हो 'सकता'--मेरे साथ सोना नहीं हो सकता! क्यों यह इच्छा होती है--जब पूरी ही नहीं हो पाती?

(सोचते हुए प्रस्थान)

× × ×

पृ० १३६

देवी--(अशोक का हाथ पकड़कर) सो जाओ--

अशोक--छोड़ो, नींद नहीं आती--

देवी--आती क्यों नहीं। देखो, मैं बुला देती हूँ।............(गले में हाथ डालकर अपने गले से लिपटाना चाहती है।)

अशोक--इस समय यह व्यर्थ की बात अच्छी नहीं लगती।

देवी--(अशोक के दोनों हाथ उठाकर अपने गले में डालती हुई) क्यों नाथ, सच कहते हो.........

अशोक--अच्छा तो मैं जाता हूँ......

देवी--मुझसे रुष्ट हो गये नाथ! न जाओ, मेरे साथ एक रात भी नहीं रह सकते?.........यदि उन्हें इच्छा नहीं होती तो मुझे क्यों होती है?

भारतीयता का दम्भ करने वाले, जयशंकर 'प्रसाद' और आचार्य शुक्ल पर कीचड़ उछालने वाले, मिश्र जी की यह बौद्धिक विडम्बना है! मैं चुम्बन और आलिङ्गन का विरोधी नहीं। चुम्बन जितना ही स्वाभाविक है आलिङ्गन उतना ही अनिवार्य। किन्तु भारतीय नाट्य शास्त्र के अनुसार कुछ व्यापार, जिनकी चर्चा मैंने पहले की है, रंगमंच पर नहीं दिखाये

जाने। किन्तु यथार्थ का धूमिल चश्मा लगाये इब्सनी तुरंग पर बैठा हुआ नाटककार अपने साथ-साथ दर्शकों और पाठकों को भी धोखा देता है। मिश्र जी के अनुसार सदाचार और दुराचार की परिभाषायें देश और काल के अनुसार बदला करती हैं—इसे कौन अस्वीकार करेगा? किन्तु भारतीय महिलाओं का सड़क पर चुम्बन और योरोपीय महिलाओ का घूँघट और बुर्के में टेम्स नदी के किनारे सैर करना किसे स्वाभाविक और सत्य लगेगा? पश्चिम का यथार्थ पूर्व के लिये अश्लीलता की सीमा छू लेता है, और पूर्व का आदर्श पश्चिम में 'गँवारूपन' समझा जाता है। फिर दोनों के समन्वय का दुस्साहस क्यों? धोती कुर्ता पहनने वाले के गले में टाई और सिर पर हैट रख कर उसकी मखौल क्यों उड़ाई जाय? इसी से मिलती-जुलती मिश्रजी की सदाचार की परिभाषायें हैं।

भावुकता बनाम यथार्थवाद

मिश्र जी यों तो अपने को बुद्धिवादी, यथार्थवादी, समस्यावादी और न जाने क्या-क्या कहते हैं। लेखक हृदय से बढ़ कर बुद्धि को महत्व देता है—भावुकता से बढ़ कर ईमानदारी और मस्तिष्क को। किन्तु इनके नाटकों में प्रत्येक मुख्य पात्र और पात्री भावुकता की बोझिल गठरी सिर पर लादे (मिश्र जी को कोसते हुए) पलायन कर जाते हैं; यथार्थ जीवन से संघर्ष न लेकर स्वप्निल संसार और आदर्शवाद की मायापुरी में विचरण करते हैं, जहाँ पहुँच कर वे देवदूत भले ही प्रतीत हो—दो हाथ-पैर वाले मानव नहीं रह जाते।

अशोक मिश्र जी का असफल ऐतिहासिक नाटक है—जिसमें अशोक को धर्मनाथ के हाथ की कठपुतली बना कर इतिहास के पृष्ठों को मलिन कर दिया है। अशोक के अधिकांश पात्र भावुकता की चौकड़ी भरते-भरते दार्शनिकता के ऊँचे टीले पर चढ़ कर प्रवृत्ति नहीं निवृत्ति का पाठ पढ़ाते हैं। देखिये :—

धर्मनाथ—परिवर्तन......होने दो। मेरा क्या ! संसार बहा जा रहा है, उसी में मैं भी बह रहा हूँ......डायना—यह गुलाब आज खिल उठा, कल अभी तक कली था, और परसों......कोयल गाती क्यों है ? क्या उसके हृदय में भी कोई प्यास होती है ?

सम्राट् अशोक ऐंटीपेटर का परिचय पूछते हैं—ऐंटीपेटर जवाब देता है :—

ऐंटीपेटर—परिचय न पूछो सैनिक—मेरा परिचय ? उसे तो मैं भी नहीं जानता सैनिक—मैं कौन हूँ।

मिश्र जी के ये पात्र इस धरती पर की भाषा न बोल कर हिमालय की कन्दराओं में समाधि लगाने वाले योगियों की भाषा बोलते हैं। अंत में नाटककार ऐंटीपेटर, धर्मनाथ तथा जयंत की हत्या करवाता है। डायना को पागल तथा सर्वदत्त (कलिंग के महाराज) को सन्यासी बनाता है। इस भाँति नाटक के मुख्य मुख्य पात्रों को पलायनवाद की एक फूँक से ही रंगमंच से भगा कर अंतिम यवनिका गिरवाता है।

'सन्यासी' मिश्र जी का दूसरा नाटक है—यह नारी समस्या को लेकर चलता है। एक कालेज के दो प्रोफेसर हैं—प्रो० रमाशंकर तथा प्रो० दीनानाथ। मालती उसी कालेज की छात्रा है। प्रो० रमाशंकर और विश्वकांत (मालती का सहपाठी) दोनों मालती को हथियाना चाहते हैं। अंत में जीत प्रो० रमाशंकर की होती है। इधर दूसरे प्रो० दीनानाथ, जो काफी वृद्ध हैं, युवती किरणमयी से विवाह करते हैं। किरणमयी मुरलीधर पर मरती है, जिन्होंने उसका कौमार्य भंग किया था। अंत में मुरलीधर जेल में दम तोड़ते हैं, किरणमयी उनकी मृत्यु से दुखी होती है। इधर मालती के निष्ठुर व्यवहार से विश्वकांत सन्यासी हो जाता है। और अंतिम दृश्य है मालती और रमाशंकर, किरणमयी और दीनानाथ का पारस्परिक समझौता। इस नाटक में भी लेखक ने एक प्रेमी की हत्या करवा दी और दूसरे को सन्यासी बना दिया। भावुकता अपनी

चरम सीमा पर पहुँच कर उस समय सिसकी भरने लगती है जब वह विश्वकांत को सन्यासी के रूप में देखती है। नारी से हमदर्दी दिखाने वाला नारी-चरित्र को किस बुरी तरह रौंदता है ! मिश्र जी के यथार्थवाद को हम नपुंसकतावाद की कोटि में रखेंगे जिसका स्पष्टीकरण अगली पंक्तियों में हो जायगा। लेखक यथार्थवाद की गठरी सिर पर लादे भावुकता की टेढ़ी-मेढ़ी गलियों से जाता है जिसका न कोई लक्ष्य है न उद्देश्य, है केवल नग्नता और विद्रूपता।

'राक्षस का मंदिर' में भी आदर्शवाद की जय और यथार्थवाद की पराजय दिखाई गई है। साथ ही साथ मनुष्य की निम्न प्रवृत्तियों को कुरेद-कुरेद कर उभाड़ा गया है जिससे नाटक एक भयानक मज़ाक बन कर रह गया है।

रामलाल दस हजार मासिक की आय वाला वकील अशगरी नामक वेश्या को अपने घर में केवल शराब पिलाने के लिये रखता है। अशगरी के शब्दों में रामलाल का चरित्र सुनिये :—

······शाम को कचहरी से आते थे—बोतल और ग्लास लेकर वह (अशगरी) उनके सामने खड़ी होती थी। वह जब तक पीते रहते थे उसकी ओर देखा करते थे—बस यही इतना......

ललिता प्रश्न करती है—वे उसे प्रेम करते थे ?

अशगरी—इस तरह का प्रेम भी होता है (मिश्र जी प्रेम की परिभाषा योनि क्रीड़ा और मैथुन को ही मानते हैं ?) कि कभी हाथ तक न पकड़ा जाय.........

वास्तविक जगत में मैंने किसी भी शराबी को चाहे वह कितना ही गरीब और ७० वर्ष का बुड्ढा ही क्यों न हो (रामलाल ७० वर्ष के नहीं थे) इतना नपुंसक और पुरुषत्वहीन तथा सदाचारी नहीं देखा। पता नहीं मिश्र जी रामलाल को किस आदर्शवादी जगत या यों कहना अच्छा होगा कि किस हिजड़िस्तान से पकड़ लाये हैं। शराबी व्यभिचारी न हो, कामुक

न हो, यह एक बड़ा भारी भ्रम है। खैर कुछ भी हो—मिश्र जी ने रामलाल को इस माने में देवता बनाकर अपने आदर्शवाद की रक्षा की है (जो नितान्त असम्भव है)। नाटक के दूसरे पात्र और पात्रायें—रघुनाथ, ललिता तथा दुर्गा भी उसी आदर्शवादी नाव पर चढे मिश्र जी की जयजयकार करते पलायन नगर को बढ़ते चले जा रहे हैं।

दुर्गावती (मुनीश्वर की पत्नी) के सामने ही मुनीश्वर अश्गरी का चुम्बन लेता है और दुर्गावती अपने पति का चरणोदक लेती है। यह कैसा यथार्थवाद है? यह हुआ यथार्थवाद तो हो सकता है किन्तु प्रगतिशीलता की इसमें गंध नहीं जिसका दम मिश्र जी भरते हैं। सम्भवतः मुनीश्वर को मिश्र जी ने राजा जनक (विदेह) की कोटि में रखा है।

इसी प्रकार भावुक कवि रघुनाथ शराबी और रंडीबाज पिता का विद्रोह न करके घर से पलायन कर जाता है और ललिता प्रथम दृष्टि में ही रघुनाथ पर मुग्ध हो जाती है और उसे न पाकर आजन्म कौमार्य व्रत रखने का प्रण करती है। अंत में जन्म भर का पापी मुनीश्वर मातृ-मदिर (वेश्यागृह) की स्थापना करके संसार से विरक्त-सा हो जाता है। जिन मुनीश्वर, रघुनाथ, भवानी दयाल तथा ललिता को प्रगति के मार्ग पर आरूढ़ होना चाहिये था वे ही अपने वर्तमान से असंतुष्ट होकर मिथ्या सामाजिक कल्याण का ढोंग रचते हैं। आखिरकार हम देखते हैं कि मिश्रजी की 'कला' का अन्त फुलवारी में होता है, उसका अन्त जीवन-समुद्र के उस किनारे पर नहीं होता जहाँ आँधी है, वज्र है, बिजली और उल्कापात है।

राक्षस का मन्दिर की भूमिका में लेखक ने यह स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि मनुष्य में दानव और देवता दोनों का निवास रहता है। मुझे यह सूक्ति स्वीकार है। किन्तु इनके मुनीश्वर और भवानी दयाल में प्रारम्भ से अन्त तक राक्षसत्व ही दिखाई पड़ता है। प्रारम्भ का मुनीश्वर,

अकेली अशगरी के ओंठों को जूठा करने वाला मुनीश्वर अन्त में मातृ-मन्दिर की स्थापना करके सैकड़ों अशगरी के ओंठों को चूसने का आयोजन करता हुआ नजर आता है। लेखक ने उसे मातृ-मन्दिर का संस्थापक बनाकर उसके चरित्र को उठाने का प्रयत्न अवश्य किया है किन्तु ऐसा करने में वह बुरी तरह असफल रहा। मातृ-मन्दिर की स्थापना भी मुनीश्वर का एक 'पब्लीसिटी स्टन्ट' है, क्योंकि उस तथाकथित मातृ-मन्दिर या वेश्या मन्दिर में बुढ़ियों की गुजर नहीं है जो सब भाँति अपाहिज हैं। बूढ़ी वेश्याओं को उसमें प्रवेश नहीं मिलता, वह तो किशोरियों के लिये बना है जिनके शरीर पर लोट-पोट कर मुनीश्वर और भवानी दयाल ऐसे पातकी (मिश्रजी के देवता) अपनी वासना की प्यास बुझाते हैं।

राक्षस का मन्दिर में कुछ पलायनवादी दार्शनिक सम्वाद सुनिये :—

मि० बैनर्जी मुनीश्वर से कहते हैं कि :—

दुनिया को समझने के लिये दुनिया के साथ रहना होता है।

मुनीश्वर—हश......तब समझने के लिये होश कहाँ रहता है ? कहीं इज्जत, कहीं धन, माँ, बाप, भाई.........

मुनीश्वर के कथन का तात्पर्य यह हुआ कि माँ-बाप, भाई-बहन, स्त्री-पुत्र—यहाँ तक कि सारा संसार व्यर्थ है, माया है। इसे छोड़ने में ही कल्याण है।

इस प्रकार राक्षस का मंदिर सचमुच अपने नाम को चरितार्थ करता है। नाटक में कोई भी ऐसा पात्र नहीं जो साँस लेता मालूम पड़ता हो—सब निर्जीव और काठ के पुतले। अगर किसी एकाध पात्र में सजीवता है तो वह भी विपथगामिनी और निष्क्रिय। वे पात्र दुनियाँ वालों को दुनियाँ में रहने का संदेश नहीं देते—भागने का पाठ पढ़ाते हैं।

मिश्र जी का तीसरा समस्या नाटक 'मुक्ति का रहस्य' है। इस नाटक

की प्रधान पात्री आशा देवी हैं। इनका चरित्र अशगरी के साँचे में ढाला गया है। राक्षस का मंदिर में लम्पट मुनीश्वर अशगरी पर हाथ साफ करता है और मुक्ति का रहस्य में दुराचारी डा० त्रिभुवन नाथ। जिस प्रकार राक्षस का मंदिर का रामलाल शराबी होने पर भी सच्चरित्र दिखाया गया है (जो असम्भव है) उसी प्रकार उमाशंकर के घर में रात दिन रह कर आशा देवी उन्हें नपुंसक साबित करके छोड़ देती हैं। मिश्र जी इसे उमाशंकर का आदर्श और निःस्वार्थ प्रेम कहेंगे। यौवन का तीखा घूँट पीकर वासनाओं से कचोटी जाने पर भी आशा देवी उमाशंकर से कभी भी अपना प्रेम प्रस्ताव नहीं रखतीं (यद्यपि दोनों एक दूसरे को प्रेम करते हैं)। चरित्र की कितनी बड़ी निर्बलता है जिस पर आदर्श का आयल पेन्ट किया गया है! उमाशंकर के चाचा काशीनाथ उसके हिस्से की सारी जायदाद २०५६३।।≋) में लिखा लेते हैं, किन्तु राजनीति में दखल देने वाला, चुनाव जीतने वाला आई० सी० एस० उमाशंकर चूँ तक नहीं करता। उसकी प्रेमिका को डाक्टर हड़प लेता है, उसे भी वह सहन कर लेता है। वह मुरारीसिंह को स्कूल से निकाल देता है क्योंकि उसने स्कूल बंद करके उमाशंकर के लिये चुनाव में जीतने का प्रचार किया था। आधुनिक युग में तो ठीक इसका उल्टा होता है और यही यथार्थ है। यह उनका आदर्शवाद नहीं तो और क्या है? कहाँ गया इब्सन साहब का रंग जो मिश्र जी पर चढ़ा था? (वह तो शायद भूमिका के लिये ही सुरक्षित था।) आठ वर्ष का लड़का मनोहर साम्यवाद की बातें करता है—सुनकर आश्चर्य होता है। आदर्शवाद के ही चक्कर में पड़कर आशा देवी उस लम्पट को अपना पति बनाती है। एक पाप को छिपाने के लिये दूसरा पाप किया। एक को प्रकट करने में आशा के अधर नहीं खुलते थे, क्योंकि उसमें आदर्शवादी ताला लगा था। अब उमाशंकर की स्त्री को विष देने वाली घटना तथा डाक्टर द्वारा अपने सतीत्व-भंग की कथा निःसंकोच बता देती है। यह कैसी असम्भव कल्पना लेखक ने की है?

इतने पर भी उमाशंकर उसे ग्रहण करने को तैयार होता है किन्तु आशा देवी कहती हैं—यही तो मेरा त्याग है......मैं अपने देवता को अपवित्र नहीं करूँगी। ऐसा मालूम होता है जैसे 'प्रसाद' की देव सेना बोल रही हो।

इस तरह उमाशङ्कर का सब कुछ छीन कर नाटककार ने उन्हें आदर्श-वाद की सड़क पर हवा खाने के लिये अकेला छोड़ दिया। यही उसकी मुक्ति है।

भावुकता, दार्शनिकता तथा नियतिवाद के कुछ उदाहरण देखिये :—

उमाशंकर—मैं चाहता हूँ......सब से छुट्टी लेना......कोई अपना नहीं......किसी तरह का बंधन......अकेले......और यह संसार चाहे जैसा रहे। (जैसे घोर छायावादी कवि बोलता है।)

उमाशंकर आशा देवी से कहते हैं :—

......उसके भाग्य में जो होगा......मनुष्य जो लेकर पैदा होता है......वही......कोई बदल नहीं .....आदमी का जीवन और यह विराट् जगत......समुद्र के बुलबुले उठे और बैठे......

आशा—यही कि मेरे जीवन का क्या होगा ?

उमाशंकर—यह कोई बड़ी समस्या नहीं है। जो हो। काल के अनंत प्रवाह में मनुष्य का जीवन क्या है ? तिनके की तरह बहता चला जा रहा है।......

इस भाँति भावुकता और कल्पनाओं को साथ लेकर लेखक द्विजेन्द्र-लाल राय तथा प्रसाद दोनो के समकक्ष ही खड़ा किया जा सकता है। यदि उन दोनों की कला जीवन से दूर है (?) तो मिश्र जी ही ने जीवन को कौन-सा अमृत पिला दिया ?

राज योग और आधीरात मिश्र जी की असफलता का ढिंढोरा तब तक पीटते रहेंगे जब तक हिन्दी साहित्य में एक भी बुद्धिवादी जीवित रहेगा। पहले इसमें भावुकता और पलायन वृत्ति को ही लेता हूँ।

राजयोग में चम्पा एक ग्रेजुएट लड़की है जिसका प्रेम दीवान रघुवंश सिंह के पुत्र नरेन्द्र से कालेज में ही हो जाता है—किन्तु जमींदार राजा शत्रुसूदन पैसे के बल पर एक पत्नी के होते हुए चम्पा को भी हड़प लेता है। सब कुछ होने पर भी दोनों का दाम्पत्य जीवन सुखमय नहीं है। नरेन्द्र अपने तंत्रमंत्र या मेस्मेरिज़्म-विद्या से गजराज द्वारा सारा रहस्योद्घाटन करा के दोनों में समझौता करा देता है और बाद में गजराज के साथ पलायन कर जाता है। भोली चम्पा को शत्रुसूदन के गले में बरजोरी बाँध कर कायरों की भाँति मैदान में छोड़कर भाग जाना शोभा नहीं देता। नरेन्द्र ने ऐसा करके अपने यौवन का अपमान किया और उसके इस मेस्मेरिज़्म में भावुकता अधिक और बुद्धिवाद कम है।

'आधी रात' में मायावती के दो प्रेमी हैं—राधाचरण और एक दूसरा—दोनों बैरिस्टर हैं। माया के लिए दोनों में द्वन्द्व होता है। राधाचरण की गोली से उसका प्रतिद्वन्द्वी मर गया और मर कर भूत बना। (?) बदले में राधाचरण को आजीवन कारावास मिला। दुर्भाग्य या सौभाग्य से जल्दी छूट गया; फिर छूटने पर संसार से विरक्त हो जीवन के कलरव से दूर कहीं नदी-किनारे वंशी बजाया करता है। इधर माया राघवशरण से अपनी रक्षा के निमित्त प्रकाशचन्द को मूर्ख बना कर अपने साथ रखती है और अंत में स्वयं भी आत्महत्या करके पलायन कर जाती है। राधाचरण वंशी बजाता है, उसका प्रतिद्वन्द्वी भूत बना, प्रकाशचन्द भावुक और मूर्ख। तात्पर्य यह कि नाटक के सब पात्र निर्जीव और नपुंसक बन दर्शकों को ठगते और धोखा देते हैं। वे जीवन में कोई भी गतिशील प्रेरणा देने में असमर्थ हैं।

आदर्शवाद और पलायनवाद को पुष्ट करने वाली कुछ पंक्तियाँ देखिये। राघवशरण कहता है :—निवृत्ति का स्थान प्रवृत्ति से बहुत ऊँचा है......

मायावती—पूर्व जन्म के कर्मों के अनुसार हमें फिर जन्म लेकर उनका भोग भोगना पड़ता है। यही तो हमारा वैज्ञानिक सत्य है।

मायावती प्रकाशचन्द्र से कहती है:—मैंने तुमसे कभी कोई इच्छा नहीं प्रकट की। पाँच वर्ष बीत गए......तुमने मुझे कभी कुछ दिया? (कुछ का तात्पर्य—मैथुन-सुख) कुछ भी? तुम्हारी सेवा में ही मुझे जो कुछ मिला हो—चाहे जितना सुख और संतोष। मुझे इतने का भी अधिकार नहीं था क्या?

मायावती में मिश्रजी ने इतना भी साहस नहीं पैदा किया कि वह राधवशरण को वह फटकार दे कि वह क्यों उसके पीछे पड़ा है? एक की प्रेयसी, दूसरे (राधाचरण) की पत्नी, तीसरे (प्रकाशचन्द) की भावी पत्नी—मायावती कितने घाट का पानी पीकर भी प्रकाशचन्द के साथ अछूती-सी बनी रही। जिस स्त्री का एक प्रेमी होता है उसके संयम का कुछ भरोसा किया जा सकता है किन्तु इस नाटक के सब पुरुष पात्र जिसके प्रेमी हैं, वह पाँच साल प्रकाशचन्द के साथ रहकर भी विदेह बनी रही—आश्चर्य है! और प्रकाशचन्द्र को नपुंसक कहूँ, आदर्शवादी कहूँ या पलायनवादी कवि कहूँ? कुछ भी समझ में नहीं आता। मिश्र जी ने क्या खिलवाड़ किया है?

प्रो० विनय मोहन शर्मा ने सिन्दूर की होली के विषय में अपनी राय प्रकट करते हुए कहा है कि "सिन्दूर की होली की आलोचना यदि एक वाक्य में की जाय तो यही कहा जा सकता है कि यह जीवन के लिए नहीं है, कला के लिये है; समाज के लिये नहीं है, व्यक्ति के लिये है।"*

मनोजशंकर (सिन्दूर की होली) हैमलेट की तरह अपने पिता की मृत्यु का रहस्य जानते जानते पागल नहीं, अकर्मण्य तो अवश्य बन गया है। 'चन्द्रकला' ने रजनीकांत को केवल एक बार देखा था किन्तु उस

---

* दृष्टिकोण, पृ० ७३

एक बार के दर्शन में ही वह सब कुछ भूल गई। वह यह भी भूल गई कि रजनीकान्त विवाहित है और एक लड़के का बाप भी और उसी भूल में उसे अपना पति मान अपने सिन्दूर की होली खेल लेती है—आजन्म वैधव्य व्रत।

मनोरमा १० वर्ष की उम्र में ही विधवा हो गयी थी। वह भी अपने वैधव्य की रक्षा साँप की मणि की तरह करती हुई डिप्टी कलेक्टर मुरारीलाल तथा मनोजशंकर दोनों के प्रेम को ठुकरा देती है। नाटककार ने समस्या का हल इस प्रकार किया है:—रजनीकांत को मरवा दिया। मनोरमा विधवा थी ही, चन्द्रकला को भी विधवा घोषित कर दिया। मनोजशंकर को भी मुरारीलाल से उस समय विरक्ति हो जाती है जब उन्हें यह ज्ञात होता है कि मेरे पिता का हत्यारा यही है। फिर बचा कौन! प्रधान पात्र और पात्रायें तो आदर्श के भँवर में पड़कर डूब गये। कुछ आदर्शवादी कथोपकथन देखिये :—

मनोरमा—चित्तवृत्ति का निरोध योग है और यही आनन्द है। जो चाहते हो न चाहो—आनन्द तुम्हारा है और तुम हो आनन्द के।

........समाज की चेतना के लिये विधवाओं का होना आवश्यक है........उसके भीतर सकल्प है, साधना है, त्याग और तपस्या है—यही विधवा का आदर्श है और यह आदर्श तुम्हारे समाज के लिये गौरव की चीज है।........

× × ×

मनोजशंकर—हम लोगों ने इसके लिये कोई प्रयत्न नहीं किया। संचित कर्म जो चाहते हैं करा डालते हैं—इसमें हम किसी का दोष नहीं है।

उपर्युक्त पंक्तियों में मिश्र जी का नियतिवाद, आदर्शवाद और पुनर्जन्मवाद बोल रहा है।

असम्भव और बेतुकी कल्पनायें

राजयोग पढ़ते समय मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि कहीं मैं देवकीनन्दन खत्री लिखित 'चन्द्रकान्ता सन्तति' तो नहीं पढ़ रहा हूँ। आगे [illegible] पढ़ते समय ऐसा आभास हुआ कि कहीं बैताल पचीसी तो नहीं हाथ से लुढ़क पड़ी। मनोजशंकर (सिन्दूर की होली) का चरित्र पढ़ते-पढ़ते हैमलेट की याद आ गई। मनोजशंकर द्वारा मातृ मंदिर की स्थापना प्रेमचन्द के सेवा सदन की स्मृति ताज़ी करती है। रमाशंकर (मुक्ति का रहस्य) का चरित्र चित्रण तथा उसका इन्द्रिय निग्रह भीष्म पितामह को सामने खड़ा कर देता है। सिन्दूर की होली पढ़ते-पढ़ते श्रीमद्भागवत की झाँकियाँ आँखों में कौंध जाती हैं।

राजयोग का नरेन्द्र चम्पा का सहपाठी और प्रेमी रह चुका है। दीवान रघुवंश सिंह का वह एक मात्र पुत्र है जिसे बचपन से जवानी तक उन्होंने पाला पोसा। गजराज भी नरेन्द्र और चम्पा के प्यार, परिचय और पारस्परिक घनिष्ठता को जानता है। नरेन्द्र को उसने कई बार कालेज में देखा था। किन्तु नरेन्द्र का पाँच वर्षों का वियोग सब पर मेस्मेरिज्म कर देता है—कोई उसे नहीं पहचानता, शत्रु सूदन अपने प्रतिद्वन्द्वी को, चम्पा अपने प्रेमी को, रघुवंश अपने पुत्र को, गजराज अपने मालिक के पुत्र को। यह सब कैसे संभव हो सका, जब कि नरेन्द्र वही नरेन्द्र है—हाँ, उसके पास अलफी, कामदार चादर, कटार और रत्न का डिब्बा, ये वस्तुएँ अवश्य थीं। उसने दाढ़ी-मूँछ भी नहीं बढ़ाई, सिर पर जटा नहीं, साधु नहीं, भिक्षुक नहीं, औघड़ नहीं। वह केवल एक इंसान बन कर आता है। फिर भी इन आँख के अंधों को नरेन्द्र को देखकर भी नरेन्द्र की याद भी नहीं आती, नरेन्द्र का भ्रम भी नहीं होता। इसे मैं मिश्रजी का बुद्धिवाद तो नहीं अबुद्धिवाद अवश्य कह सकता हूँ। यही नहीं—मिश्र जी की बाजीगरी तब अपनी करामात दिखाती है जब

नरेन्द्र गजराज को मूर्छित करके उसके मुंह से सब रहस्योद्घाटन कर जाता है। यहाँ दर्शक और पाठक ऐसा अनुभव करने लग जाते हैं जैसे वे सड़क पर एक बाजीगर का खेल देख रहे हों जो अपने साथी बच्चे को जमीन पर लिटाकर चादर से मुह ढँक देता है, फिर प्रश्न करता है—

"आ गया ?"

उत्तर मिलता है, "आ गया।"

"सब देखते हो ?"

"सब देखता हूँ।"

फिर दूसरा साथी किसी एक दर्शक की टोपी लेकर पूछता है—

"यह क्या है ?"

सोने वाला उत्तर देता है, "टोपी।"

"क्या रंग है ?"

"लाल।" इत्यादि

इसी तरह प्रश्नोत्तरों की झड़ी लगा के जनता का मनोरञ्जन करता हुआ अपने पेट के लिए याचना करता है। ऐसा ही कुछ राजयोग नाटक है।

राजयोग में जो कुछ कमी थी वह 'आधी रात' में मिश्र जी ने पूरी कर दी। राजयोग में तो जीवित गजराज बोलता है किन्तु 'आधी रात' मे मायावती का प्रेमी जिसे राधाचरण ने गोली मार दी थी और जो अब भूत बनकर एक पेड़ पर बैठा है, बातें करता है। हैमलेट में हैमलेट की प्रेतात्मा दिखाई पड़ती थी किन्तु बातें नहीं करती थी। किन्तु मिश्रजी दो कदम आगे बढ़कर 'मैकबेथ' तक पहुँच गये जहाँ तीनों जादूगरनी (Three Witches) मैकबेथ को वरदान देती हैं। विश्वास न हो तो देख लीजिये, मायावती के प्रेमी की प्रेतात्मा पेड़ पर से क्या कहती है। पहले प्रकाशचन्द्र के मुख से प्रेतात्मा का रूप वर्णन सुनिये :—

"आँख खुली। कोई भयानक काला आदमी यहाँ बैठा था......

मेरी छाती उसके दोनों हाथों के बीच में आ गयी थी......ओह ! उसकी काली लम्बी नाक......साँस से......तो दुर्गंध की आँधी आ रही थी। ......उसके दो दाँत यहाँ तक ओठ के बाहर बरछे की तरह निकल गये थे......उसके बाल की लटें बँध गई थीं।"

जिस पेड़ पर प्रेतात्मा रहती है उस पेड़ की डाल हिलती है—(बिना हवा अथवा बाह्य प्रयोग के) राधाचरण प्रेतात्मा को संबोधित करके कहता है :—

"सुनो। मैं जानता हूँ, इस समय तुम्हारी शक्ति मुझसे बढ़ गई है।......तुम कई बार मुझे तंग भी कर चुके।......बुराई तुमने की थी। क्या कहा ? नहीं ! अरे भाई शायद तुम भूल रहे हो। हाँ, हाँ, यह क्या ? नहीं मानोगे। अच्छा देखो मैं तुम्हें बाँध लेता हूँ.........क्या तुम भी स्वतन्त्र नहीं हो ? वहाँ भी पुलिस है ? इस रूप में भी भूख-प्यास का अनुभव होता है ? तुम्हे तो कोई रोक नहीं ?......हूँ तो तुम्हारे लिए भी रोक है।......"

× × × ×

(अकस्मात पेड़ की डाल हिलने लगती है। राधाचरण उठकर तेजी से पेड़ के पास पहुँचता है।)

राधाचरण—क्या ? कब ? तो वह डूब गई ? और तुमने उसे नहीं रोका ? उफ़ तुम हँस रहे हो ?

तो तुम इसे अपनी वीरता समझ रहे हो ?......प्रकाशचन्द का रूप धरकर तुमने उसे रोका, तब भी ? क्या कहा ?

अब उस जन्म में ! उस जन्म में ? और इस जन्म का अंत कर इस तरह ?......

रामलाल (राक्षस का मंदिर) का हाथ में चाकू मारना और चाकू का हाथ के आर पार निकल जाना भी मिश्र जी की अद्भुत बाजीगरी का एक नमूना है।

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि शेक्स-पियर के अनुयायी स्व० 'प्रसाद' थे अथवा मिश्र जी हैं।

अमनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण

जयंत (अशोक) अपनी आधी सेना का सेनापति धर्मनाथ को बना देता है जिसका चरित्र वह भली भाँति जानता है। यहाँ पर जयंत का चरित्र पूर्णतया अमनोवैज्ञानिक है।

मोती (सन्यासी), मालती के पिता उमानाथ का नाजायज पोष्य-पुत्र, मालती का ड्राइवर है। वह एक मुँहलगा नौकर है। निम्न श्रेणी का नौकर होते हुये भी वह एक स्थल पर कहता है, "मैं नौकर हूँ!" जैसे अभी तक अपने को वह कुछ और समझता रहा हो। उसके चरित्र का संपूर्ण विकास न होने पर वह अमनोवैज्ञानिक और अधूरा है।

उमाशंकर का पुत्र मनोहर (मुक्ति का रहस्य) आठ वर्ष का बालक है जिसका बौद्धिक विकास अभी उस स्तर तक नहीं हुआ है कि वह कह सके, "मैं नहीं जाऊँगा। अपने तो गद्दी वाली गाड़ी में बैठे और मुझे दूसरी गदी गाड़ी में......उसमें चमार चिलम पी रहे थे.. ...।" लेखक ने उसे कभी तो माँ के प्रेम में विह्वल करके अबोध बच्चा बना दिया है और कभी ऊँच-नीच का भेद समझने वाला कम्युनिस्ट।

गजराज (राजयोग)—मनुष्य अपने पाप का प्रायश्चित्त करता है किंतु उस पश्चात्ताप में क्रमिक विकास होना चाहिये जो गजराज के चरित्र में नहीं है। नरेन्द्र के आने पर ही उसका मानसिक विस्फोट होना कुछ पहेली-सा लगता है। विचित्रता तो यह है कि शत्रुसूदन, चम्पा, दीवान रघुवंश सब के दुखों का कारण वह अपने को समझने लगता है। कथा का प्रारम्भ रघुवंश के दुःख से हुआ, उसका विकास शत्रुसूदन और चम्पा के मानसिक संघर्षों में हुआ और चरम सीमा तथा अन्त गजराज के प्रायश्चित्त और उसके दुःख निवारण में हुआ। सब मिलाकर गजराज

के चरित्र का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण सर्वथा बेतुका और अविश्वसनीय हुआ है।

मनोजशंकर (सिन्दूर की होली) भी हैमलेट की भाँति मानसिक संतुलन खो बैठा है। उसे एक ही धुन सवार है—उसके पिता का हत्यारा कौन है? उसके लालन-पालन और सुख-सुविधा में मुरालीलाल ने तनिक भी लापरवाही नहीं की, फिर यह अस्वाभाविक प्रलाप क्यों? उसकी मनोदशा उस समय अपनी चरम सीमा पर पहुँचती है जब वह पढ़ाई-लिखाई छोड़, यह जानने के लिये घर बैठ जाता है कि "मेरे पिता का हत्यारा कौन है?" (वह पिता जो १० वर्ष पहले मर चुका है।) उसके चरित्र का यह अमनोवैज्ञानिक भावुकता अखरने की सीमा तक पहुँच जाती है।

माहिर अली (सिन्दूर की होली) डिप्टी कलेक्टर मुरारीलाल का मुंशी है—फिर भी इतना मूर्ख और गँवार! मनोजशंकर के पिता की हत्या मुरारीलाल ने की जिसमें माहिर अली का सहयोग है—किन्तु वह डरता है कि बात प्रकट हो जाने पर उसे तो फाँसी लगेगी और मुरारीलाल बच जायगा। ऐसा गधा मुंशी मिश्रजी कहाँ से पकड़ लाये, जिसके चरित्र में न वास्तविकता है, न मनोवैज्ञानिकता।

डा० त्रिभुवन नाथ (मुक्ति का रहस्य) का हृदय परिवर्तन नितान्त अमनोवैज्ञानिक और अविश्वसनीय है। सदा का लम्पट एक रात में ही सदाचारी बन गया। इस परिवर्तन का संकेत नाटककार ने कहीं भी नहीं किया है, जिसके आधार पर विश्वास जम सके।

इसी प्रकार रामलाल (राक्षस का मंदिर) का चरित्र नितान्त अमनोवैज्ञानिक और अविश्वसनीय बनाया है। इतना बड़ा वकील और इतनी बड़ी जायदाद का मालिक होते हुए भी अपने इकलौते पुत्र को, जो पढ़ालिखा, सुसभ्य और सुसंस्कृत है, बिना किसी अपराध के घर से निकाल देता है। इतना ही नहीं, अपनी सारी सम्पत्ति लम्पट मुनीश्वर को मातृ-

मंदिर की स्थापना के लिये लिख देता है और रघुनाथ को कुछ भी नहीं देता। वास्तविक जगत में ऐसा पिता ढूँढ़ने पर भी न मिलेगा, फिर मिश्र जी किस कछार से ढूँढ लाये ?

मिश्र जी और कला

मुक्ति का रहस्य की भूमिका में एक स्थान पर मिश्रजी लिखते हैं :—

१. जीवन का भग्नावशेष कला के पर्दे में छिपा रहता है...... लेकिन तब, जब उस कला का आधार बौद्धिक विवेक और जागरण होता है, व्यक्तिगत मनोवेगों का रुदन, ज्वर और सन्निपात नहीं......

२. कला के मूल्य में जब तक जीवन की व्यापक भावना नहीं रहती वह पूरी भी नहीं हो पाती। कला की सफलता जीवन को पकड़ लेने में, उसमें मिल जाने में है, उससे विद्रोह करने में नहीं।

३. जिस कमी को हम अपने जीवन में अनुभव कर रहे हैं, वह साहित्य का विषय नहीं।

४. ....कलाकार इस तरह का उपदेशक तो नहीं है ? वह जो कुछ भी कहता है......उसके निजी प्रयोग और अनुभव की बातें होती हैं। क्या होना चाहिये और क्या नहीं होना चाहिए, इन सब बातों का सवाल तो यहाँ नहीं उठता। यहाँ तो जो है, कला अपने शुद्ध रूप में इस तरह के नियमों से परे है। वह तो अनन्त के इस पार से उस पार होने वाले धूमकेतु की तरह है। सम्भव है उसका वेग उपयोगी हो, यह भी सम्भव है कि उसमें किसी तरह की प्रत्यक्ष उपयोगिता न हो—यहाँ तक कि विश्व की प्रचलित परिपाटियों में वह हानिकर भी हो उठे। लेकिन...........यह स्वर्ग से उतरा हुआ प्रकाश है और इसलिये पवित्र है......

इन चार उद्धरणों में प्रथम तीन तो 'कला जीवन के लिये' के

अन्तर्गत आते हैं और अन्तिम 'कला कला के लिये' के भीतर समाया हुआ है।

मिश्रजी की राय में "गाय भी गाभिन और बैल भी गाभिन" दोनों संभव है। कला कला के लिये भी है और जीवन के लिये भी। जब उनके नाटक कला कला के लिये लिख उठें तो आप कहेंगे कि मैंने तो कला की परिभाषा ऐसी ही दी है, और जब संयोग से कोई नाटक 'कला जीवन के लिये है' की परिपाटी पर खरा उतरे तो आप जोर से चिल्ला उठेंगे, "वाह ! मैंने तो भूमिका में यही लिखा था।" इसी तरह उन्होंने अपनी भूमिका में कहीं व्यक्तिवाद की दुहाई दी है और कहीं समष्टिवाद की। कहने का तात्पर्य यह कि मिश्रजी अपने नाटकों में "साफ छिपते भी नहीं, सामने आते भी नहीं" की आँख मिचौनी खेलते हुए द्विजेन्द्रलाल राय, जयशंकर 'प्रसाद' तथा आचार्य शुक्ल को अपनी कुर्सी पर बैठे-बैठे गाली दिया करते हैं। गाली देने से, कहिये मिश्रजी की बात मान लूँ, लेकिन दिल और दिमाग गवाही नहीं देते। इसी प्रकार मिश्रजी के हृदय और मस्तिष्क का भी द्वन्द्व दर्शनीय है। कभी तो कहते हैं, "हृदय से बच्चे बोलते हैं" और कभी तो बुद्धि की भर्त्सना करते हैं; कभी यथार्थवाद की ओर झुकते हैं, कभी आदर्शवाद की ओर; कभी छायावादी भाषा बोलते हैं, कभी मार्क्स-वादी; कभी सदाचार का उपदेश देते हैं, कभी पाप-पुण्य की मेड़ ही तोड़ देते हैं; कभी अपने को आस्तिक कहते हैं कभी नास्तिक। सारांश यह कि मिश्रजी भी कुछ नये लीडरों की तरह अवसरवादी हैं जिनके भाषण, स्थान और समय के अनुकूल बदला करते हैं। पाठक इनकी भूमिका पढ़कर उसी तरह चक्कर में पड़ जाते हैं जैसे स्वयं मिश्रजी उलझे हुए हैं। उन्होंने अपने नाटकों में लगभग उन्हीं बातों का समर्थन किया है जिनका भूमिका में विरोध किया था। स्थानाभाव से न विस्तृत विवेचना की जा सकती है और न उदाहरण ही दिये जा सकते हैं। हाँ—पाठकों को स्वयं इनकी पुस्तकों में उदाहरण ढूँढने में कोई कठिनाई न होगी।

षड्यंत्र और हत्याकांड इनके सब नाटकों में हैं—किसी किसी में तो दो-दो, तीन-तीन हत्यायें कराई गई हैं। भूमिका में मिश्रजी ने द्विजेन्द्र लाल राय को विवेकहीन और अंधा नाटककार बतलाया है—यही नहीं उन्होंने कहा है कि "राय से बढ़ कर अन्तःकरण का अंधा साहित्यकार दूसरा नहीं है।"

अपने मत के प्रमाणस्वरूप 'दुर्गादास' नाटक में दुर्गादास और 'गुलनार' के सम्वाद को उद्धृत किया है। 'गुलनार' के प्रेम को मिश्रजी ने अवास्तविक और अमनोवैज्ञानिक करार दिया है—क्योंकि गुलनार दुर्गादास से कहती है :—

"पसंद कर लो बेगम गुलनार का प्यार या मौत ?"

मिश्र जी के कथनानुसार प्यार करने वाली स्त्री प्यार ही दे सकती है, मौत नहीं। किंतु मेरी राय में मिश्रजी को और भी जिन्दगी के पन्ने उलटने पड़ेंगे तब उनकी समझ में यह आवेगा कि स्त्रियाँ जिसे प्यार करती हैं उसे सब कुछ दे सकती हैं और प्रतिहिंसा की भावना से भर उठने पर उसका सब कुछ ले भी सकती हैं। मेरे मत का—या द्विजेन्द्र लाल राय के मत का समर्थन स्वयं मिश्र जी ने अपने एकांकी नाटक 'गंगा की लहरें' में किया है। 'यमुना' अपने प्रेमी श्रीकांत को न पाने पर कोर्ट में अपना बयान श्रीकांत के विरुद्ध देती है और उसके बयान पर ही बेचारे प्रेमी को सात साल का कठोर कारावास मिलता है। मिश्र जी गिरगिट की तरह रंग बदलते रहते हैं, कहीं कुछ कहीं कुछ। ऐसा तो साहित्य का रोगी ही कर सकता है, मिश्र जी ऐसा प्रतिभावान नाटककार नहीं।

नाटक में 'स्वगत' और 'गीत' को मिश्रजी ने अनावश्यक माना है—हाँ, कहीं उनकी आवश्यकता पर भी जोर दिया है (वही डबल रोल)—किन्तु इनके अधिकांश नाटकों में दो-दो पृष्ठ का स्वगत चलता रहता है। 'अशोक' में एँटीपेटर और डायना के कथोपकथन स्वगत के माया-जाल

में फँसे मिश्रजी की चुटकी लेते हैं। अशोक से उदाहरण न दूँगा क्योंकि नाटक का एक तिहाई भाग स्वगत की ही कंदरा में साँस लेता है। शेष नाटकों से कुछ उदाहरण देकर मिश्र जी की अहम्मन्यता का पर्दाफाश करना उचित समझता हूँ।

मुक्ति का रहस्य में मनोहर भावातिरेक में बोल उठता है—माँ! माँ! बोलो! नहीं बोलोगी? नहीं बोलोगी?......'राक्षस का मंदिर' में रघुनाथ का स्वगत देखिये :—रघुनाथ—(गंभीर होकर धीरे से) वास्तव में मुझे प्रेम करती थी।.........मुझमें प्रेम करने की कौन सी चीज मिली?

रघुनाथ—यह स्वप्न भी टूट गया। जीवन के समुद्र में तूफान आया है—डूबने के पहले हाथ पैर तो मारना ही.........

आधीरात का स्वगत आकाश-भाषित जैसा हो गया है।

पृष्ठ ६०, ६१, ६२ में राधाचरण का पूरा कथन ही स्वगत है। यह स्वगत लगभग चौंतीस पंक्तियों तक गया है। पाठक पुस्तक देखकर अपनी शंका समाधान कर सकते हैं। इतने पर भी नाटककार 'प्रसाद' जी को 'स्वगत' प्रयोग के लिये दोषी ठहराता है! इसका फैसला कौन करे?

इसी तरह इनके गीतों का भी हाल बेहाल है। सन्यासी की किरणमयी को छोड़कर जिन जिन पात्रों से इन्होने गीत गवाया है वह सर्वथा अप्रासंगिक और भर्ती का ज्ञात होता है। 'आधीरात' में पृ० १२३-१२४ में राधाचरण का गीत सुनिये :—

विश्व की आशाओं में बंद
आँसुओं का आकुल संसार......इत्यादि

'राजयोग' में चम्पा गुनगुनाती है :—

कितनी दूर विकल चलकर ये मेरे अश्रु अधीर,
आज चेतना-हीन गिर रहे किस तटिनी के तीर?

'राक्षस का मंदिर' में अश्गरी गाती है :—

किन्तु आह ! तुम बैठ विजन में
खोल हृदय पर कुंचित केश—
बीत गईं मान की घड़ियाँ,
प्रियतम सोचोगी किस देश ?

यदि ये गीत प्रसंगानुकूल हो सकते हैं तो स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त इत्यादि में 'प्रसाद' के गीत भी उपयोगी प्रसंगानुकूल और सार्थक हैं।

हृद्-गत भावों को प्रकट करने के लिये जब किसी अंतरंग मित्र या माध्यम का अभाव खटकता है उस समय उसे 'स्वगत' के माध्यम से प्रकट करना नितान्त अनिवार्य हो जाता है। कभी-कभी मनुष्य परिस्थिति की गंभीरतावश अपने मन की बात अपनी पत्नी तथा अभिन्न मित्र से भी नहीं कहता। उस समय उसके मनोगत भाव प्रकट करने के लिये 'स्वगत' के सिवा और कौन माध्यम होगा ?

हाँ, स्वगत प्रयोग में सावधानी की आवश्यकता है। जहाँ उसके बिना काम न चले वहीं उसका प्रयोग वाञ्छनीय है, अन्यथा नहीं।

मधुर गीत भी नाटक में गति भरते हैं। भाव-विभोर हो प्राणी का मन जब गहन पीड़ा या सुख की अनुभूति से कचोट उठता है तब स्वतः हृदय से गीत निकल पड़ते हैं। उस समय गीत का न निकलना ही अस्वाभाविक माना जायगा।

टेकनीक की दृष्टि से भी मिश्र जी अधिक सफल नहीं हुए हैं। रंग-मंच का जो नया रूप इन्होंने प्रस्तुत किया है वह काफी अव्यवस्थित है। प्रत्येक अंक के पूर्व रंगमंच सम्बन्धी जो लम्बी-चौड़ी योजनायें प्रस्तुत की हैं वह अव्यावहारिक और नाटक में बाधा डालने वाली हैं। 'सन्यासी' में बार-बार दृश्य बदलता है—इससे अभिनय में काफी बाधा पड़ती है। 'आधी रात' की भूत-प्रेत वाली घटना 'तथा पेड़ की डाली का हिलना यह सब रंगमंच पर कैसे सम्भव हो सकता है ? रामलाल अपने हाथ में

चाकू मार लेते हैं, इसके लिये किसी बाजीगर को पकड़ना पड़ेगा। 'प्रलय के पंख पर' (एकाङ्की) में लेखक ने प्रलय का दृश्य—आँधी-पानी, पेड़ों का गिरना तथा केशवचन्द्र का उसके नीचे दबना बताया है। इसे कैसे अभिनीत किया जायगा?

भाषा सरल और परिमार्जित है किन्तु कहीं-कहीं व्याकरण-दोष और प्रान्तीयता आ गई है। अंग्रेजी वाक्यों को बीच-बीच में फिट करके 'आधा घर टटिहर आधा घर भीत' को खूब चरितार्थ किया है। कहीं-कहीं अंग्रेजी के वाक्य उनके अतिवास्तविकवाद की हँसी-सी उड़ाने लगते हैं—

देखिये—'राक्षस का मंदिर', पृ० २६

रामलाल—Is this your philosophy fool?

मुनीश्वर—Yes, where is the inconsistency?

पृ० ११७ में देखिये—

दूसरा—That is always moral.

तीसरा—No sir, that is seldom moral. It requires thrashing. Have'nt you read Hobbes?—इत्यादि।

मिश्र जी का कथन है कि जिस रूप में कुछ मित्रों या परिवार वालों के साथ हम बातें करते हैं उसी प्रकार नाटक की भी भाषा होनी चाहिये। किन्तु नाटक पढ़ते समय हम साधारण घरेलू कपड़े पहने घर में बैठे रहते हैं और रंगमंच पर सौन्दर्य-प्रसाधन तथा प्रभावोत्पादक बनने के लिये मेकअप (Make up) करते हैं। उसी प्रकार रंगमंच की भाषा भी सीधी और बोधगम्य हो सकती है किन्तु उसमें से सौंदर्य और कला का बहिष्कार सर्वथा अरुचिकर होगा।

रस की दृष्टि से भी नाटककार पाश्चात्य के प्रति अधिक निष्ठावान् रहा है। इनके समस्या नाटकों में रस नाम की कोई चीज ही नजर नहीं आती है। जहाँ कोई रस नहीं होगा वहाँ शांत रस तो होगा ही। अतः

इनके अधिकांश समस्या नाटकों का अंत शांत रस में ही हुआ है। रस की दृष्टि से भी लेखक भारतीय परम्परा का उल्लंघन करता हुआ पाया जाता है।

संक्षेप में—मिश्र जी पर इब्सन, शा, लारेन्स, रोम्यारोला, फ्रायड, वर्जीनियावुल्फ, भारतीय उपनिषद्, गांधी, शरत्, द्विजेन्द्रलाल राय तथा 'प्रसाद' का प्रभाव परोक्ष या अपरोक्ष रूप में पड़ा है। इसलिये वे जिस प्रकार अपनी भूमिका में उलझ गये हैं उसी प्रकार अपनी कृतियो में भी।

इनकी समस्यायें जन-साधारण की समस्यायें न बन कर कुछ विशेष व्यक्तियों की समस्यायें बन गई है। समस्याओं में रोमांस (कहीं पाश्चात्य कहीं पूर्वी) अधिक है और वास्तविकता कम, भावुकता अधिक यथार्थता कम, जीवन का स्वप्न अधिक जीवन की चेतनता कम। एक शब्द मे, मिश्र जी पूर्व और पश्चिम दोनों ओर से इस प्रकार प्रभावित हुए कि अंत में न देशी रहे न विदेशी, बीच में ही त्रिशंकु से लटक रहे हैं।

मिश्र जी एकांकीकार के रूप में भी अभी-अभी सामने आये हैं। इनके दो संग्रहों का उल्लेख मैंने ऊपर किया है। नाटकों की समीक्षा न करके उनके टेकनीक पर ही थोड़ा प्रकाश डालने का प्रयत्न करूँगा।

एकांकी के क्षेत्र में भी मिश्र जी ने एक नवीन टीला तोड़ा है।

प्रत्येक एकांकी के प्रारम्भ में पात्र और पृष्ठभूमि का परिचय दिया है। 'पात्रों' में पात्रों का परिचय और पृष्ठभूमि में कथा का सारांश दिया है। दृश्य-विधान की ओर संकेत तक नहीं किया है। जहाँ दृश्य बदलता है अथवा संघर्ष, उत्कर्ष अथवा अपकर्ष की सीमायें आती हैं वहाँ लेखक ने 'परिवर्तन' लिख कर आगे की घटनाओं का वर्णन किया है।

पृष्ठभूमि में कथा का सार देने से नाटक पढ़ने की उत्सुकता कम हो जाती है। परिवर्तन लिखने मात्र से ही पाठक समझ जाते हैं कि आगे

क्या होगा। संयोगवश जहाँ-जहाँ इन्होंने परिवर्तन किया है वहीं-वहीं कथा और पात्रों में परिवर्तन भी होता है। दृश्य-विधान के अभाव के कारण इनके एकांकी 'सम्वाद' की कोटि में ही आवेंगे।

समयाभाव और स्थानाभाव से मिश्र जी के शुक्ल पक्ष पर मैंने कुछ नहीं कहा—(यों अन्य विद्वानों ने उस पर तो बहुत कुछ कहा है) फिर भी अवकाश मिलने पर इनकी सम्पूर्ण कृतियों की समीक्षा करने का प्रयत्न करूँगा। ऊपर जो कुछ कहा गया है वे सब मेरे व्यक्तिगत विचार हैं—सम्भव है बहुत से विद्वान आलोचक मुझसे सहमत न हों; किन्तु मैं उन पर अपने विचारों को लादने का दुस्साहस भी न करूँगा।

एकांकी-कला

लेखक और कल्पना

इस जगत के उपवन में नाना प्रकार के रंग-बिरंगे फूल हँस रहे हैं, लतायें पेड़ों से चिपटी हैं, पक्षी पेड़ की शिखा पर बैठा भाव-विभोर हो अपने गीत में तन्मय है। हर प्रकार के स्त्री और पुरुष, बूढ़े और जवान इस उपवन में आते और चले जाते हैं। एक सुघड़ और आकर्षक व्यक्तित्व वाला राजकुमार, जिसके आगे-पीछे दोनों ओर 'जी हुजूर' कहने वाले पहरा दे रहे हैं, सम्भवतः लेखक की लेखनी को प्राण न दे सके और फटे-पुराने चीथड़े लपेटे आँखों से कीचड़ के पनारे बहाता हुआ एक भिखारी उसे कुछ लिखने को बाध्य कर दे। लेखक के मन पर उपवन की जो चीज अधिक समय तक अपना अधिकार जमाये रह सकेगी उसी पर वह लेखनी चला सकता है। भिखारी को 'नायक' और और राजकुमार को प्रतिनायक बनाने की क्षमता उसकी कल्पना और सबल लेखनी में है। वह पात्रों को अपनी भावनाओं, आवेगों, कल्पना और विचार-शक्तियों का जामा पहनावेगा जिसके अभाव में उसकी कृति ठीकरे के समान निष्प्राण हो जायगी। चतुर नाटककार लेखनी उठाने के पहले उन भावनाओं और आवेगों का अनुभव कर लेना चाहेगा जिन्हें परिस्थितियों ने उसके जीवन में नहीं आने दिया है। वह अपने पात्रों से इच्छित रस की उत्पत्ति तभी करा सकता है जब वह स्वयं उस रस में आपादमस्तक सराबोर हो। नाटककार अपने प्रति जितनी लगन रखेगा

और अपने कर्त्तव्यों के प्रति जितना ही जागरूक रहेगा, उसके पात्र उतने ही सजीव रहेंगे।

लेखक में अगार पर्यवेक्षण शक्ति का होना अनिवार्य है। व्यष्टि और समष्टि में उपस्थित जड़ और चेतन का अध्ययन करते-करते उसकी तर्कना-शक्ति पुष्ट और विचार-शक्ति बड़ी पैनी बन जाती है। काल्पनिक शक्तियों के बिना तो लेखक अपंगु बन जाता है। उसकी 'कल्पना स्पष्ट और स्वाभाविक होनी चाहिये। वह जीवन और मृत्यु दोनों से समान रूप से प्यार करता है। उसे जड़ और चेतन अपने-अपने स्थान पर निरंतर स्फूर्ति प्रदान करते रहते हैं। कल्पना के अभाव में सुन्दर से सुन्दर घटना-पट को वह लेखनी की नोक से विदीर्ण कर देगा। किसी महान् विभूति का संसार से उठ जाना सबके चेहरे को मलिन कर देगा किन्तु एक पिल्ले का मोटर से दबकर मर जाने और उसकी माँ का उसके शव को चाटने वाली घटना कल्पना-प्रधान सहृदय लेखक को ही द्रवीभूत कर सकती है। औरों की भी आँखें गीली हो सकती हैं। मातायें थोड़ी देर तक घटना-स्थल पर ठिठक कर दो बिन्दु भले ही ढुलका दें; किन्तु लेखक या कवि उसे अपनी कल्पना के सहारे चित्रित किये बिना रात भर सो नहीं सकता। प्रखर कल्पना वाला लेखक साधारण सी साधारण चीजों में अपनी कल्पना के लिये खूराक ढूँढ़ लेता है। उपर्युक्त उपादनों की न्यूनता होने पर लेखक और कवि बनने का स्वप्न देखना व्यर्थ है। यह उसके बूते की बात नहीं है। व्यर्थ का कागज रंगने से कब कोई लेखक या कवि बना है?

जीवन एक पुस्तक है, जिसमें अनेकों पृष्ठ, अनेकों वाक्य, अनेकों शब्द और अनेकों अर्द्ध और पूर्ण विराम हैं। जो व्यक्ति इस पुस्तक को लगन और तन्मयता से पढ़ता और सोचता-विचारता है वह कुछ देकर जाता है। जो निर्दयता से पुस्तक के पन्ने उलटता जाता है, जीवन के किसी मोड़ पर रुक कर पढ़े हुये पाठों को सोचने और विचारने से

घबड़ाता है वह असफल होता है। जो प्रत्येक शब्द की व्युत्पत्ति, उसकी अभिधा, व्यंजना और लक्षणा शक्तियों को समझ कर पढ़ता है, न समझने पर अपने बड़ों से पूछ लेता है वह सफल होता है। उसकी देन भी सफल और सजीव होती है।

इस पुस्तक के विभिन्न पाठ हैं—किसी पाठ में यौवन की अंगड़ाइयाँ लिखी गई हैं, जवानी की नादानी से भरी सिसकियाँ हैं। किसी पाठ में दुःख है, दर्द है, कराह है और दम घुटा देने वाले 'केशव' के से नीरस पद और छन्द हैं। किसी पाठ में शान्ति है, शान्ति का संदेश है, बड़प्पन और अमरता है। किसी पाठ में इर्ष्या है, द्वेष है, किसी में लोभ और प्रेम है। किसी में अहंकार और कर्तव्य है, किसी में जीवन और मृत्यु है, किसी में महल और झोपड़ी है, किसी में शिशुता और यौवन है, किसी में सड़ान्ध और सुगन्ध है और किसी में उत्थान और पतन है। जो व्यक्ति पूरी पुस्तक के उपर्युक्त कुछ चुने हुये पाठों को न पढ़कर केवल कुछ परीक्षोपयोगी इम्पारटेन्ट प्रश्नो को ही पढ़ता है उसे धोखा खाने का डर रहता है, उसके गिरने का रास्ता सपाट हो जाता है।

यदि वह सफल भी हो जाय तो गुरु बन कर अपने विद्यार्थियों को समुचित संतोष नहीं दे सकता। उसे तो पूरी पुस्तक पढ़नी है, पढ़नी ही नहीं शोध करनी है। तब कहीं वह महान् कलाकार बन सकता है और उस समय उसकी लेखनी की नोक से जो कुछ निकलेगा उसमें कला का सम्यक् विकास होगा, जीवन की चेतनता होगी, प्राणों का स्फुरण होगा और विश्व के लिये होगा संजीवनी बूटी का एक घूँट।

जीवन की इसी पुस्तक से नाटक की उत्पत्ति होती है। जीवन की इन यथार्थताओं का वर्णन यदि नाटक में नहीं है तो वह दो कौड़ी का है। यथार्थता से तात्पर्य ऐतिहासिक सत्य से नहीं बल्कि स्वाभाविकता से है। यदि हम राजस्थान का दृश्य देकर अपने नायक और नायिका को गंगा की कोमल छाती पर नाव चलाते हुये दिखाते हैं अथवा बम्बई का

हाथ लेकर नियाग्रा के प्रपात की कलकल सुनाते हैं। अथवा इसी प्रकार अन्य किसी असम्भव प्रकरणों का समावेश नाटकों में करें तो वह कृति कुरुचिपूर्ण, भोंडी, अविश्वसनीय तथा हेय रहेगी।

यदि नाटक के पात्र जीवन की स्वाभाविकता लिये हुये शुद्ध और सही वार्तालाप नहीं करते, या उनके भाव-प्रदर्शन और अंग-सचालन में किसी प्रकार की त्रुटि रह जाती है तो नाटक बुरी तरह असफल हो जाता है। क्योंकि दर्शक नाटक के कलाकारों से ऐक्य नहीं स्थापित कर सकता। वह उन्हें किसी अजायबघर का जन्तु समझता है जो उससे नितांत भिन्न प्रतीत होते हैं।

लेखक की बातें तर्क-संगत और प्रभावोत्पादक होनी चाहिये। मनोवैज्ञानिक भी सच्चा और ईमानदार होना चाहिये। यदि नाटक का कोई दुष्ट पात्र १०-१५ मिनट में साधु बनकर वैराग्य और ज्ञान की दीक्षा देने लगता है तो यह परिवर्तन इतने सुचारुरूप से लाना चाहिये जिससे दर्शकों के मन में विश्वास जम जाये। वे कह उठें "हाँ—इस पात्र से यही आशा की जाती थी।" ऐसा करने के लिये नाटककार के लिये यह विशेष प्रयोजनीय हो जाता है कि यदि उसे किसी पात्र में स्वभावगत परिवर्तन लाना वांछनीय है, उसे दानव से मानव या मानव से दानव बनाना अभीष्ट है तो उस पात्र के 'राक्षसत्व' में 'देवत्व' की झलक पहले से दे देनी चाहिये नहीं तो समूचा परिवर्तन अग्राह्य और बेतुका बन जायगा।

श्री सद्गुरुशरण अवस्थी के 'बालि-वध' में—बालि के हृदय परिवर्तन पर दर्शक मण्डली अविश्वास की साँस नहीं लेती, बल्कि बालि के चरित्र के देवत्व की प्रभा से नतमस्तक हो जाती है। विश्वास के मुक्त वातायन से आने वाली बयार उन्हें श्लथ बना देती है। वह बालि के चरणों पर उसी श्रद्धा से झुकती है जिस उत्सुकता और विनय से रामचन्द्र के।

बालि के राक्षसत्व में देवत्व की झलक लेखक ने पहले ही दिखा दी है। बालि अपनी पत्नी तारा का उत्तर देता है।

बालि—"सुग्रीव अपनी पत्नी को ले जा सकता है। मैंने उसे बलात् अपहरण अवश्य किया था। जब सुग्रीव प्रतिपक्षी था.........

"मैं उसे राज्य का अर्द्ध भाग भी दे सकता हूँ।......परन्तु खड्ग के भय से, बाणों की नोक से, किसी अपर की मध्यस्थता से मैं कुछ भी करने को प्रस्तुत नहीं।" इस प्रकार लेखक ने उसके चरित्र में मानवी गुणों का पहले ही साक्षात्कार करा दिया है। इसलिये अंतिम समय में बालि के मुख से निकली निम्नलिखित वस्तु असत्य नहीं प्रतीत होती।

बालि (सुग्रीव से)—मैंने तुम्हारे साथ बड़ा अन्याय किया है। यदि क्षमा कर सकोगे तो मुझे संतोष होगा।

✓नाटककार फोटोग्राफर से ऊँचे स्तर पर है। फोटोग्राफर ऊपरी रूप का ही यथातथ्य चित्र खींच कर अपनी सफलता पर झूम कर, केमरे को चूम लेता है किन्तु नाटककार बाह्य परिस्थितियों, घटनाओं के साथ-साथ मनोभावों तथा भीतरी प्रवृत्तियों का भी 'एक्सरे' ले लेता है। इसलिये नाटककार एक बड़ा भारी दार्शनिक भी माना जा सकता है—क्योंकि वह जीवन में प्रवेश करके बहुत गहरे तक पहुँच जाता है जहाँ साधारण मनुष्य स्वप्न में भी नहीं जा सकता। नाटककार अपनी कल्पना के निमित्त बहुत-सी खाद्य-सामग्री साहित्य के अन्य अंगों से जुटाता है। उपन्यास, कहानी, कविता तो उसके मुख्य आहार हैं—साथ ही साथ आत्म-चरित्र, जीवन-चरित्र, इतिहास तथा विज्ञान से भी ऐसी बहुत-सी वस्तुयें प्राप्त की जा सकती हैं जिसे पाकर नाटककार निहाल हो जायगा। यह सम्भव नहीं कि प्रत्येक जड़-चेतन का प्रत्यक्ष रूप से अपनी इन्द्रियों द्वारा सम्पर्क स्थापित कर सके। दूसरे लेखकों की रचनाओं में इनका वर्णन पढ़ कर काफी मसाला इकट्ठा कर सकता है। विश्व के महान् लेखकों की रचनाओं से जितना ही घनिष्ट सम्बन्ध जिस लेखक का होगा उतनी ही

सरस और आकर्षक उसकी रचनायें बन सकेंगी।* किन्तु किसी का अन्धानुकरण करने से मौलिकता की हत्या होने का भी भय रहता है। अनुकरण और अध्ययन उसी का होना चाहिये जिसके सम्पर्क में लेखक अभी तक न आया हो और न निकट भविष्य में कोई आशा ही हो।

नाटक लिखने में विचार (कल्पना), पर्यवेक्षण-शक्ति तथा कला तीनों का सुन्दर समन्वय होना चाहिये। वस्तु का प्रादुर्भाव प्रथम से, विकास द्वितीय से और उसका रूप तीसरे से सँवारा जाता है।

श्री रामकुमार वर्मा जीवन और नाटक की व्याख्या करते हुये कहते हैं कि "मेरी कल्पना में नाटककार मञ्च पर खड़ा है......मुट्ठी बाँध कर पूछता है—क्या है इसमें? आप कह दीजिये—दो आँसू, एक हँसी, आधा चुम्बन। नाटककार कहेगा-ठीक है।"†

मेरी समझ में जीवन-त्रिभुज की यही शाश्वत भुजायें हैं। उसकी एक भुजा है दो आँसू, दूसरी एक हँसी, तीसरी आधा चुम्बन। इन तीनों रेखाओं को जो अपनी कला, कल्पना और समझ से ठीक-ठीक नाप ले वही सफल नाटककार बन सकता है। उसकी कृतियाँ निम्नलिखित अनेकों प्रश्नों का उत्तर देने में सहायक होंगी और दर्शक तथा श्रोतागण उस नाटक को देखने या सुनने के लिये पैसे का लोभ न करेंगे।

१. बँगले में रहनेवाली सेठानी हृष्ट-पुष्ट और सुन्दर तथा सुयोग्य

---

* The more excellent your acquaintance is with the works of those who have excelled, the more extensive will be your power of invention, and what way appear still more like paradox the more original will be your own conceptions.—Sir Joshua Reynold.

† 'परीक्षा' की भूमिका से उद्धृत।

पति के प्रेम का आधा भाग चुरा कर क्यों अपने काले-कलूटे दरवान को देती है जो बात-बात में खिलखिला उठता है।

२. दूसरे का बँगला, दूसरे की उन्नति, दूसरे की सुन्दर स्त्री देख कर क्यों ईर्ष्या होती है?

३. 'स्नेह यज्ञ' उपन्यास का सर सुरेन्द्र मीनाक्षी को क्यों नहीं अच्छा लगता?

४. हिजड़ा किसी सुन्दरी पर क्यों नहीं मोहित होता?

५. एक वृद्ध भी सड़कों पर घूमने वाली किसी वृद्धा को क्यों नहीं देखता? अपने ऐनक के नीचे से अनुभवी आँखों द्वारा कुमारियों की छवि पर क्यों निसार हो जाता है?

६. अशिक्षित स्त्रियाँ क्यों फूहड़ और घिनौनी सी लगती हैं?

७. आजकल के नवयुवक 'हंस-गमनि' के बदले 'अश्व-गमनि' लड़कियों को क्यों पसन्द करते हैं।

८. मनुष्य ४० वर्ष के बाद क्यों दार्शनिक बनने लगता है?

इसी प्रकार अन्य बहुत से प्रश्न हैं जिन्हें अध्ययन करने के लिये हमें जीवन को बहुत बारीकी से देखना होगा। बारीकी से देखने पर अनगिनत घटनायें मिल जायँगीं जो एकांकी की प्रेरणा बन सकती हैं।

ऐसी कथायें जो जीवन से ली गई होंगीं, दर्शकों के जीवन से भी साम्य रखने पर उन्हें बहुत प्रिय लगेंगीं।

श्रव्य और दृश्य काव्य

श्रव्य-काव्य में हमारी श्रवणेन्द्रिय अधिक सजग रहती है, उसी के द्वारा हम उपन्यास, कहानी और कविता का रसास्वादन करते हैं। न समझने पर पुनः पढ़ा हुआ पृष्ठ उलटकर पढ़ सकते हैं। उसका सम्पूर्ण स्वाद हम पुस्तकों को पढ़कर ले सकते हैं। जब मन में आया, पढ़ा, फिर छोड़ दिया। दृश्य काव्य का सम्बन्ध आँखों से अधिक है। यों तो अभि-

नय का सम्पूर्ण आनन्द विभिन्न इन्द्रियों के सहयोग से ही मिल सकता है—नेत्र तो केवल अपना ही काम करेंगे। जगत् का सूक्ष्म से सूक्ष्म सौंदर्य किसी एक इन्द्रिय द्वारा ही मन को विमुग्ध नहीं कर सकता। गुलाब के फूल का सौन्दर्य आँखों से पिया जाता है और नाक से भी। और दोनों इंद्रियों के सम्मिलित प्रयास से मन भी सजग हो उठता है।। मिठाई देखकर जीभ में पानी भर आता है, रेडियो सुनकर कान चौकन्ने हो उठते हैं, सुन्दर रमणी को देखकर आँख में नशा उतर आता है—किन्तु रमणी के कोमल कण्ठ का स्वाद कान ले सकते हैं, मिठाई की कमनीयता से आँख भी तृप्त हो सकती है। तात्पर्य यह कि सम्यक् रसास्वादन के लिये आँख, कान, नाक इत्यादि सभी इन्द्रियों का सहयोग अपेक्षित है। इतना होते हुये भी नाटक को दृश्य काव्य के अन्तर्गत मानते हैं। यद्यपि प्रो० श्री सद्गुरुशरण अवस्थी जी की राय में 'श्रव्य' और 'दृश्य' का भेद करना नितान्त स्थूल है।* किन्तु मेरी समझ में आचार्यों द्वारा किया हुआ भेद अपनी संपूर्ण गुरुता लिये हुये सदा अमर रहेगा। उदाहरण-स्वरूप, जिस प्रकार हम हिन्दी साहित्य के इतिहास को चार कालों में विभक्त किये बैठे हैं—वीरगाथा काल, भक्तिकाल, रीतिकाल तथा आधुनिक काल। '

वीरगाथा काल में वीररस की कवितायें अधिक लिखी गईं, इसलिये उस युग का नाम वीरगाथा काल पड़ा, भक्तिकाल में राम-कृष्ण को लेकर रचनायें हुईं, इसलिये उसे भक्तिकाल कहते हैं, रीतिकाल में शृङ्गार रस की कृतियों का जमघट रहा, अतः उसे रीतिकाल कहते हैं। पर ध्यानपूर्वक यदि देखा जाय तो वीरगाथा काल में भी शृङ्गार और भक्ति रस की कवितायें लिखी गई थीं, भक्तिकाल में वीर और शृङ्गार रस की भी कवितायें पाई जाती हैं। रीति काल में वीर और भक्तिरस की भी कवितायें लिखी

* देखिये—प्रो० सद्गुरुशरण अवस्थी लिखित 'मुद्रिका' की भूमिका।

गईं, फिर भी जिस युग में जिस रस की विशेषता अधिक रही वह काल उसी रस के नाम से प्रख्यात हुआ।

ठीक इसी प्रकार यद्यपि दृश्य काव्य में आँख, कान दोनो का सजग रहना अनिवार्य है फिर भी नाटक का वास्तविक आनन्द अंधा नहीं पा सकता। 'रामचरितमानस' सुनने में अंधे को जितना रस मिलेगा संभवतः 'शकुन्तला' सुनने में न मिले। इसलिये नाटक को दृश्य-काव्य कहना समीचीन प्रतीत होता है। नाटक देखते समय यदि ध्यान किसी ओर बँट गया तो बीते हुए दृश्य की झलक नहीं मिल सकती क्योंकि नाटक की गति बिजली की भाँति है। बिजली का दृश्य तो खुली आँखें ही देख सकती हैं। सुन्दर अभिनेता, या अभिनेत्री, उसका लुभावना चेहरा, उसके कथोपकथन का लहजा, दृश्यों की जगमगाहट, भ्रू-संचालन जो कुछ क्षण पहले रंगमंच पर प्रदर्शित किया जा चुका है ठीक उसी दृश्य को देखने के लिये यदि कोई दर्शक पुनः उसी समय आग्रह करे तो उसका आग्रह उस बालक के सदृश्य होगा जो कौंधी हुई बिजली या रेडियो पर गाये हुये गाने को पुनः देखना या सुनना चाहता है। इन सब बातों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि नाटक का पूरा आनन्द पढ़कर नहीं देखकर लिया जा सकता है।

श्री विष्णु लिखित 'माँ-बाप' एकांकी नाटक में दामोदर स्वरूप का एक मात्र पुत्र 'अशोक' साम्प्रदायिक दंगे में घायल होकर मर गया। यह समाचार सुन लेने पर सहृदय पाठकों का हृदय अवश्य पसीज उठेगा किन्तु वही दृश्य रंगमंच पर देखने से जीवन भर याद रहेगा। दर्शकों में से अनगिनत 'दामोदर स्वरूप', हजारों 'कलावती' और सैकड़ों 'अनीता' निकलेंगी जिनका अन्तस्तल मर्मान्तक पीड़ा से घायल हो उठेगा।

स्व० श्री जयशंकर प्रसाद कृत 'स्कन्धगुप्त' की नायिका 'देवसेना' का अंतिम गीत—

आह वेदना मिली विदाई,

मैंने भ्रमवश जीवन संचित, मधुकरियों की भीख लुटाई। नाटक में पढ़कर क्षण भर के लिये कोई भले ही पिघल जाय। पर उसका प्रभाव चिरस्थायी न होगा। किन्तु रंगमंच पर की देवसेना के मुँह से 'निकला हुआ एक-एक शब्द जब दर्शकगण सुनेंगे और उसकी (देवसेना की) भाव-भंगिमा से वेदना का जो स्रोत प्रवाहित होगा उसका प्रभाव चिरस्थायी होगा। तात्पर्य यह कि नाटक रंगमंच की वस्तु है, अतः उसका प्रभाव रंगमंच पर ही देखा जा सकता है। केवल पढ़ने पर एक-सम्वाद शब्दों का समूह मात्र बन कानों को एक आवाज सुना जाता है, रस नहीं घोल पाता।

नाटक पढ़ा भी जाता है और देखा भी। यदि नाटक की संपूर्ण कला, उसकी सारी कमनीयता, उसका विकास पढने मात्र से ही पाठक को मुग्ध कर सकता तो संभवतः वह समय और पैसे की हत्या करने रंगमंच के समीप न जाता। इससे साफ प्रतीत होता है कि पुस्तको में लिखे हुये नाटक से रंगमंच के नाटक में भेद है।। रंगमंच का नाटक पुस्तक का नाटक होते हुये भी और कुछ है। यही 'और कुछ' नाटक का हृदय है, उसकी आत्मा है जो पाठकों को दर्शक बनने को बाध्य करता है।)

नाटक का संबंध दर्शक के मनोभावों और स्थायी भावों से है। सुसुप्तावस्था में पड़े हुये स्थायी भावों को सफल नाटक 'रस' की संज्ञा देता है—करुणा, प्रेम, घृणा, शृङ्गार, हास्य किसी भी एक रस को एकांकी की चरमसीमा तक पहुँचा देता है। यदि नाटक किसी भी रस की उद्भावना करने में असमर्थ रहा तो वह वहीं मर जाता है।

| श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' लिखित 'जोंक' में प्रोफेसर साहब का रोशनदान से चोरों की भाँति निकलना पाठक के ओठों पर एक पतली मुस्कराहट की रेखा खींच देगा किन्तु रंगमंच पर वही दृश्य हजारों हृदय को गुदगुदा कर हँसी का झरना बहा देगा। इस प्रकार नाटक व्यक्तिगत 'ससीम' से समूह के 'असीम' में प्रवेश करता है जहाँ वह ब्रह्म की भाँति

ज्योतिमय और साकार होकर एक पाठक को नहीं हजारों दर्शकों को एक साथ हँसाता-रुलाता है। नाटक देखकर आँखें आँसुओं से भर जायँ अथवा ओठ हँसी से फैल जायँ—दोनों का अंत सुखद ही होता है—दोनों समान रूप से मनोरञ्जन करते हैं।

जीवन की गति को, जीवन के संघर्ष को, जीवन की हँसी और रंज को नाटककार एक कहानी का रूप देता है—किन्तु जीवन में क्रम नहीं है—बिना क्रम के उसका कोई निश्चित स्वरूप नहीं है, निश्चित स्वरूप न होने पर वह सुघड़ नहीं लगता। सुघड़ न होने पर आनंद नहीं देता, आनंद विहीन होने पर असत्य प्रतीत होता है। असत्य होने पर हेय समझा जाता है। किन्तु नाटककार जीवन की गति में क्रम लाता है, बिखरी हुई चीजों को संवारता है, सजाता है, फिर जीवन की कुछ विशेष प्रभावोत्पादक घटनाओं को लेकर उसे नाटक का रूप प्रदान करता है जो उस व्यक्ति विशेष के मरने पर भी जीवित रहता है।

यों तो साहित्य का जीवन से अभिन्न सम्बन्ध है—नाटक से उसका सम्बन्ध और अटूट है। किन्तु जीवन का यथातथ्य रूप नाटक में सौंदर्य-विहीन हो जाता है। मिट्टी अपने वास्तविक रूप में शायद उतनी आकर्षक न हो जितनी मूर्ति बन जाने पर। पत्थर के टुकड़े पड़े रहते हैं, पैरों से रौंदे जाते हैं; किन्तु 'राम और कृष्ण' का रूप उन पत्थरों को दे देने से सैकड़ों भक्तजन उस मूर्ति को सिर झुकाते है। ठीक इसी प्रकार जीवन में सुख है; दुख है, हास है, विलास है, किन्तु जीवन के इन महत्वपूर्ण अंगों का चित्रकार की तरह सच्चा चित्र बनाने पर आनंददायक न होंगे—उसमें कला न होगी, उसमें होगा २+२=४। नाटककार जीवन का प्रतिरूप कलात्मक ढङ्ग से सँवार कर, सजाकर, कुछ कल्पना का हलका रंग लगाकर जब सामने पेश करता है तो वह जीवन के अधिक निकट और जीवन से अधिक आनंदवर्द्धक होता है। जीवन में मृत्यु किसे अच्छी लगेगी किन्तु हाल वर्दी हाल और राबर्ट मिडिलमास के 'दी

वैलिएन्ट' में बंदी डायक (Dyke) की मृत्यु कितनी स्पृहणीय, कितनी अनुकरणात्मक, कितनी मोहक और कितनी उच्च है। उसकी मृत्यु रूखे जीवन में आनंद घोल देती है।।

एकांकी की उत्पत्ति—

एकांकी का जन्म प्रश्न और उत्तर में ही होता है। बिना प्रश्न के नाटक नहीं बन सकता और बिना उत्तर के कार्य-गति शिथिल हो जायगी। कर्म-गति के शैथिल्य से दर्शक असंतुष्ट रह जायँगे। उदाहरण-स्वरूप—

"माँ ने अपने नव-जात शिशु की हत्या की।"

इस एक मूल-भूत विचार से सैकड़ों प्रश्न उठेंगे और दर्शक उनका यथार्थ उत्तर चाहेगा।

१. माँ ने शिशु की हत्या क्यों की?

२. उसकी उम्र क्या है? २० या ४०?

३. बच्चा जायज है या नाजायज?

४. माँ ने स्नेह की कमी से हत्या की या परिस्थितियों के दबाव से?

५. परिस्थितियाँ सामाजिक हैं या व्यक्तिगत?

६. माँ अविवाहित है या विधवा?

७. अविवाहित है तो बच्चा कैसे हुआ?

८. बच्चा हुआ फिर भी प्रेमी से शादी क्यों नहीं हुई?

९. प्रेमी वंचक निकला या माँ-बाप क्रूर बने?

१०. यह प्रथम शिशु है या पीछे आधे दर्जन और हैं?

११. पति मर गया या आवारा हो गया?

१२. माँ क्या अधिक बच्चों से घबड़ा गई?

१३. क्या बच्चे की हत्या आर्थिक विषमता की ओर संकेत करती है?

१४. आर्थिक विषमता क्या अयोग्य सरकार की नीति का फल है?

इन प्रश्नों का उत्तर लेखक देगा। उत्तर ठीक और तर्कसंगत बनाने के लिये उसे अनुकूल वातावरण, परिस्थितियों एवं पात्रों की सृष्टि करनी पड़ेगी। जितने प्रश्न हैं—उतने एकांकी बन सकते हैं। एक-एक प्रश्न का उत्तर देने के लिये विषय के अनुकूल पात्र और परिस्थिति का चुनाव करना होगा। फिर कलात्मक ढंग से प्रश्न और उत्तर के घात-प्रतिघात से चरमसीमा पर पहुँच कर नाटक का उलझा हुआ रहस्य सुलझ जाता है। वहाँ दर्शक की शंकाओं का समाधान होगा और दर्शक-गण गद्गद् चित्त से घर लौटेंगे।

कथावस्तु अपनी लम्बाई, चौड़ाई और रंग-बिरंगी घटनाओं को लेकर भी सत्य से दूर हो सकती है। सत्य का समावेश करने के लिये उसमें जीवन का सम्बन्ध स्थापित करना पड़ेगा अन्यथा सब घटनायें अपने आप में पूर्ण होने पर भी हृदय में किसी प्रकार का भाव जाग्रत करने में असमर्थ रहेंगी।

मि० परसीवल वाइल्ड का कथन है कि :—

"कल्पना किया कि एक व्यक्ति ने दूसरे कि हत्या कर दी। समाचार-पत्र का सम्वाददाता घटना से अवगत होने पर भी अखबार के मुख पृष्ठ पर इस घटना का उल्लेख नहीं करता, न उसे कोई विशेष महत्व देता है।

"एक अपरिचित ने दूसरे अपरिचित की हत्या कर दी। इस घटना में न कोई अर्थ है न तुक। किन्तु जब वह यह सुनता है कि एक कैदी, जेलर को गोली मार कर भाग गया। यह बात दो घटनाओं का समन्वय कर देती है। आगे और जाँच-पड़ताल के बाद निश्चित होता है कि मृतक जेलर अपने पीछे अपनी विधवा और पाँच छोटे-छोटे बच्चों को छोड़ गया है। और अपराधी का यह पहला अपराध नहीं है उसने इसी तरह की और हत्यायें की हैं। अब सम्पादक अपनी कलम उठाता है। वह व्यक्ति के सुख-दुःख के दायरे से निकल कर सम्पूर्ण घटना-चक्र का सम्बन्ध समूचे राष्ट्र और समाज से स्थापित करता है। वह तर्क करता है—जेल

के अधिकारियों की असावधानी और शसन-सूत्र में ढिलाई होने के कारण कैदी भाग गया। अथवा किसी विरोधी राजनीतिक दल ने गुप्त रूप से कैदी को सहायता दी—अथवा कैदी के मन ने जेल-यातनाओं को न सह सकने के कारण विद्रोह कर दिया—अथवा जेलर के, कैदियों के प्रति पक्षपातपूर्ण व्यवहार ने कैदी को उत्तेजित करके उसे इस घृणित कार्य के लिये उकसाया—अथवा जेलर का एक कैदी स्त्री के साथ अमानुषिक बलात्कार भागने वाले कैदी को मानवीय भावनाओं और प्रतिहिंसा से भर उसे बर्बर बना दिया। इस प्रकार अनेकों प्रश्न उठ सकते हैं। और केवल वस्तु से ही कहानी का निर्माण नहीं हो सकता। जिस प्रकार सम्वाददाता उस छोटी-सी घटना को सँवरता है, रंगीन बनाता है। (विस्तृत जाँच-पड़ताल के आधार पर दोनों पक्षों का पूर्ण परिचय देता है) और सम्पादक उस घटना का सम्बन्ध और मानवीय व्यापारों के साथ जोड़कर उसे अधिक सत्य और सशक्त बना देता है। इस तरह एकांकी की प्रत्येक घटनायें अपने आप में महत्वपूर्ण होने पर परस्पर विलग होने के कारण अपना पूर्ण प्रभाव नहीं पैदा कर सकतीं। प्रभाव की एकता के लिये पारस्परिक सम्बन्ध अनिवार्य है। एकांकी की कोई कार्य-गति अपने आप में सबल नहीं हो सकती जब तक उसे वृहत् जीवन से मिला न दिया जाय।" |

उदाहरण के लिये डा० रामकुमार वर्मा लिखित 'विक्रमादित्य' ले सकते हैं।

| एकांकी की कार्य-गति कितनी ही सबल क्यों न हो, अकेली होने पर बहुत निर्बल हो जाती है। एक कार्य-गति के साथ अन्य छोटी-मोटी बातें सहायक रूप में मिल जाने पर परिस्थितियों के अनुकूल ढाल कर उसे समरस कर देती हैं।

कभी-कभी पात्रों तथा बाह्य परिस्थितियों की प्रतिक्रिया बड़ी सबल होती है क्योंकि पात्र और परिस्थितियाँ दर्शकों का प्रतिनिधित्व करते हैं

और पात्र अपना काम करने के साथ-साथ दर्शकों की हाँ में हाँ मिलाता है। पात्र या पात्रों के चरित्र को दुरूहता की सीमा से बाहर निकालने के लिये ज्यादा आधिकारिक और प्रासंगिक कथाओं की सृष्टि एकांकी में नहीं की जाती। एकांकी का कलाकार अनेकता में एकता और फैलाव में सिमटाव पैदा करता है।।

गति—

किसी घटना, परिस्थिति या पात्र विशेष से प्रभावित होकर लेखक को चाहिये कि उसे तुरंत नाटक का रूप न दे दे। आज की घटना को मस्तिष्क में रख ले और पंद्रह दिन या एक महीने बाद फिर उसका चिंतन करे—यदि उन घटनाओं की ओर पहले की ही तरह हृदय आकर्षित होता है तो उसे नाटक का रूप दे देना चाहिये। तात्कालिक प्रभाव तो हर वस्तुओं का मन पर पड़े बिना रह ही नहीं सकता किन्तु वह प्रभाव यदि अमहत्वपूर्ण और निरर्थक होगा तो दस रोज के बाद उसका असर उतना न रहेगा जितना पहले था। जो घटना मन को रमा न सकेगी उस विषय पर लिखा गया नाटक अल्प काल मे ही काल-कवलित हो जायगा। वे घटनायें और परिस्थितियाँ जो जीवन में गति भरती हैं, उनका अस्तित्व क्षणिक नहीं होता—उन विचारों से पराभूत लेखक अपनी कृति को अमर कर जाता है।

नाटक का पर्दा उठता है। अभिनेता और अभिनेत्रियाँ रंगमंच पर चहलकदमी करते हुये परस्पर बातों में तल्लीन हैं। कुछ पात्र रंगमंच पर आते और कुछ बाहर चले जाते हैं। रङ्गमञ्च पर जो कुछ हो रहा है उसमें गति है, संघर्ष है, द्वन्द्व है। दर्शक नहीं जानता कि क्या होगा—क्या होने वाला है? अर्थात् उसकी उत्सुकता नाटक की गति के साथ-साथ बढ़ती चली जाती है। किन्तु नाटककार को अपनी कृति का रहस्य ज्ञात होना चाहिये। यद्यपि नाटक जब तक पूरा नहीं खेला जाता

तब तक रहस्य बना रहता है। परन्तु जो रहस्य दर्शक के लिये अमृत का काम करता है वही लेखक के लिये विष बन जाता है।

*लेविस करोल (Lewis Carroll) का कथन है—प्रारम्भ से प्रारम्भ करो और तब तक बढ़ते जाओ जब तक अंतिम लक्ष्य तक न पहुँच जाओ। तब रुक जाओ। (Begin at the beginning and go on till you come to the end. Then stop.) किन्तु परसीवल वाइल्ड इसके विरोध में कहते हैं कि प्रारम्भ से प्रारम्भ करना उसी प्रकार व्यर्थ है जैसे बिना निर्दिष्ट स्थान का पता जाने गाड़ी पर चढ़ना। गाड़ी उसे सैकड़ो मील दूर ले जाकर अनिश्चित स्थान पर छोड सकती है। इसलिए नाटककार को चाहिये कि वह अंत से प्रारम्भ करे और तब तक वह पीछे मुड़कर चले जब तक वह प्रारम्भिक स्थान को न पहुँच जाय। तब प्रारम्भ करे।

To begin with the beginning is too much like a train without inquiring its destination. It may set him down a hundred miles from nowhere. Therefore, the playwright should "begin at the end and go back till you come to the beginning" Then start.

एकांकी की परिधि बहुत छोटी होती है—उस छोटी-सी परिधि में एक छोटी-सी घटना कम से कम समय में जड़ दी जाती है। यह घटना बिहारी के दोहे की भाँति छोटी होती है, फिर भी उसका प्रभाव और उसकी प्रतिक्रिया महान् होती है।

एकांकी की इस छोटी-सी परिधि से तीन या पाँच अंक वाले नाटककार अपरिचित से रहते हैं। एकता ही इसका प्राण है, एकता ही इसका लक्ष्य है, एकता ही इसकी आत्मा है, एकता ही वह लघु केन्द्र है जिसके चारों ओर एकांकी की परिधि घूमती है। यदि यह केन्द्र-विन्दु न हो तो

परिधि न बन कर वक्र रेखा बन जायगी, जिसे देख कर दर्शक गणितज्ञ की भाँति नाक-भौं सिकोड़ कर किसी सफल विद्यार्थी की कृति न मान कर उसे बच्चों का खेल समझ उधर से नजर घुमा लेगा। एकांकी में उद्घाटन की तीव्रता का दर्शन, सूक्ष्मता का स्पन्दन तथा प्रभाव में एकरूपता का सामञ्जस्य होता है, जिनका लक्ष्य एक होता है। इन सीमा रेखाओं से तीन या पाँच अंको वाला नाटककार नहीं बँधा होता।

बड़े नाटकों में पहला अंक कथावस्तु से सम्बन्धित अतीत की घटनाओं के वर्णन में ही समाप्त होता है। किन्तु एकांकी लिखने वाले को यह क्रिया-कर्म चंद मिनटों में ही करना पड़ता है। उसे सदैव यह ध्यान रहता है कि 'काम अधिक है समय थोड़ा है' (Art is long and time is fleeting)। यदि बड़े नाटकों को देखते समय दर्शक का मन रंगमंच की जीवित तसवीरों से हट कर थोड़ी देर के लिये अपनी रुग्णा पत्नी की ओर चला जाय तो कोई विशेष हानि की सम्भावना नहीं होती क्योंकि आगे चल कर नाटक अपने घटना चक्र में दर्शक को फँसा लेगा, मना लेगा, रिझा लेगा। किन्तु एकांकी का दर्शक यदि क्षण भर के लिये भी रंगमंच की धमा-चौकड़ी से ऊब जाता है, उकता जाता है, और कुर्सी में पड़े हुये खटमलों को दियासलाई के उजाले में ढूढ़ने लगता है तब समझ लेना चाहिये कि एकांकी बुरी तरह असफल रहा। एकांकी के प्रारम्भ होते ही दर्शक का मन चौकड़ी भरना भूल कर, घर में नमक, तेल, लकड़ी की चिंता छोड़ कर, नौकरी छूटने की उदासी चेहरे पर से हटा कर रंगमंच पर केन्द्रीभूत हो जाय, यही नाटक की सफलता है। रंगमंच की ओर वह इतनी तल्लीनता से देखता हो कि यवनिका पतन पर ही उसका ध्यान टूटे, और एक सुख की साँस लेकर कह उठे—"खूब सुन्दर, बहुत सुन्दर पैसा वसूल हो गया।"

१. एकता—एकांकी की मुख्य कथावस्तु को चारों ओर की छोटी-छोटी घटनायें योग दें यही उसकी एकता है। जैसे गंगाजी में अनगिनत नदी-

नाले अपने उदर का पानी ला-ला कर भरते रहते हैं और गंगा शांत, मधुर गति से समुद्र की ओर प्रवाहित होती रहती है और समुद्र से मिलना ही उसका लक्ष्य है और यही उसकी सार्थकता है। यदि प्रत्येक नदी-नाले अपनी-अपनी अकड़ से पृथक सत्ता बना कर अपने लक्ष्य, समुद्र तक पहुँचना चाहें तो सम्भवतः वे रास्ते में ही सूख जायेंगे और पानी के बदले अपने हृदय में भरे हुए धूलि कणों को प्रकम्पित वायु-प्रवाह से समुद्र में झोंके और साथ ही साथ गंगा भी शायद अंतिम लक्ष्य तक पहुँचने के पहले ही सूख जाय। ठीक इसी तरह एकांकी की छोटी घटनायें मुख्य कथावस्तु में योग देकर एक अंतिम और निश्चित लक्ष्य की ओर ढकेलें, यही एकांकी की सफलता और सार्थकता है। यदि एकांकी की छोटी-छोटी घटनायें अपनी स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार कर मुख्य कथावस्तु से असहयोग करेंगी तो एकांकी का रस सूख जायगा और दर्शक विक्षुब्ध हो निराश लौट जायगा। वह आया था कुछ क्षणों के लिये अपना दुख भूलने पर एक और दुःख लेकर घर जाता है।

श्री रामकुमार वर्मा कृत '१८ जुलाई की शाम' में अशोक, राजेश्वरी और प्रमोद से सम्बन्धित छोटी-छोटी घटनायें हैं। पर सब घटनायें एक होकर अंतिम लक्ष्य की ओर, मुख्य कथावस्तु को सहायता देती हुई आगे बढ़ती हैं। सब का लक्ष्य है 'उषा' का हृदय परिवर्तन।

पान में चूना, कत्था, सुपाड़ी, मसाला या तम्बाकू सब मिल कर पान को एक रस बना देते हैं। सब के सम्मिश्रण से हरे पान का रंग लाल, सफेद चूने का रंग लाल, भूरी सुपाड़ी का रंग लाल और पीली तम्बाकू का भी रंग लाल हो जाता है। सब के आनुपातिक संयोग से पान खाने वाले को पान का स्वाद मिल सकता है। परन्तु प्रत्येक वस्तु की अलग-अलग सत्ता मुँह में अरुचिकर होगी, अतः खाने वाला उसे थूक देगा। इसी प्रकार एकांकी की गति, उसकी परिस्थितियाँ तथा घटनायें और पात्र सब मिल कर यदि रंगमंच के अनुकूल न बनावें तो वह न नाटक बनेगा, न

कहानी बनेगी, न उपन्यास, न कविता—वह साहित्य का त्रिशंकु बन अनुपयोगी, भद्दा तथा कुरुचिपूर्ण होगा।

2 एकांकी का दूसरा तत्व उसके पात्रों से सम्बद्ध है। मुख्य पात्रों का चरित्र विस्तृत न हो। पात्रों के सम्पूर्ण जीवन की झाँकी न देकर, जीवन की एक घटना लेकर सम्पूर्ण जीवन की ओर संकेत भर कर देना नाटककार का काम है। व्याख्या करना बड़े नाटक के लेखक या औपन्यासिक का काम है। एकांकी के बहुत से पात्रों की गतिविधि मुख्य पात्र के चारों ओर भाँवरियाँ लेती रहती है।

एक से अधिक मुख्य पात्र एकाङ्की को अपंगु बना देते हैं। दर्शक पात्रो के पारस्परिक संबंध के सूचीपत्र से ही घबड़ा जाता है, मन उचट जाता है। अतः अत्यधिक मुख्य या गौण पात्र एकाङ्की में अनावश्यक हैं—इनकी बहुलता से नाटक का प्रवाह शिथिल पड़ जाता है। बिजली का बटन दबाते ही जैसे पंखा चलने लगता है और आस-पास की हवा को इकट्ठा करके मालिक के शरीर को शीतल करने लग जाता है—उसी तरह नाटक में भी मीटर एक होना चाहिये जिसके 'आन' होते ही बत्ती भी जल सके, पखा भी चल सके और रेफ्रीजरेटर बरफ भी बनाने लगे। ठीक इसी तरह रंगमंच पर—रामू, रामू की बुआ, बुआ के सौतेले लड़के की लड़की की पोती, बुआ की सखी राधे की बहिन की ननद की लड़की इत्यादि गुम्फित पात्रों के रिश्ते को ठीक-ठीक दर्शक न समझ सकेगा। उन पात्रो के पारस्परिक सम्बन्ध की तालिका ही बनाने में दस मिनट लगेगा। और पाँच मिनट प्रत्येक का नाम दिमाग में बैठाने में खर्च होगा—फिर बचा ही कितना समय जिसमें नाटककार अपने मिसमैरिज्म के बल से दर्शकों को अपनी ओर खींच सकेगा? 'देवताओं की छाया में' (श्री उपेन्द्रनाथ अश्क) कुछ ऐसा ही एकाङ्की है; जिसके पात्र मरजाना, नूरी, वेगां, रजी, भरी, रहीम, सादिक आदि हैं। नाटक को अत तक देख जाने पर भी पात्रों के पारस्परिक रिश्ते के विषय में संदेह बना ही

रहता है। इससे नाटक का प्रभाव बहुत कुछ खोखला हो जाता है। दर्शक प्रेक्षागृह में अलजबरे की प्राबलम साल्व करने नहीं जाता। इसलिये नाटककार को पात्रों के नामकरण और उनके चुनाव में सावधानी करनी चाहिये। 'अश्क' जी को मुस्लिम पात्र ही ढूढ़ना था तो 'मरजाना' के बदले 'शबनम', 'वेगां' के बदले 'बिजली', 'मरी' के बदले 'चाँद', 'ताफी' के बदले 'मुहम्मद' चुन सकते थे। मरजाना संज्ञा न प्रतीत होकर (मर जाना) क्रिया का रूप सा लगता है। मरी, वेगां और ताफी भी इसी तरह के अप्रचलित नाम हैं जो सर्व साधारण के मस्तिक में खुरचन पैदा करते हैं। नाटक के दर्शक केवल अरब और अफगानिस्तान के ही मुसलमान नहीं होते। अतः प्रचलित नाम से ही पात्रों का नामकरण करना चाहिये। हाँ उस नाम विशेष का लक्ष्यार्थ हो तो बात दूसरी है।

एकाङ्की नाटक अधिक लम्बा भी न होना चाहिये। अधिक से अधिक एक घंटे के भीतर खेला जाने वाला एकाङ्की अधिक प्रभावोत्पादक होता है। इस तरह हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि बड़ा नाटक समूचे जीवन का प्रतिरूप है किन्तु एकाङ्की में समय संकोच के कारण सम्पूर्ण जीवन को चित्रित करने में असमर्थ सा होकर उसका कलात्मक ढंग से संकेत मात्र कर देता है—किन्तु वह संकेत मात्र से ही जीवन का सफल चित्र दर्शकों के मन में बैठाकर अपना काम समाप्त कर देता है। बड़ा नाटक विविध घटनाओं का विस्तार कर उसमें अपने दृष्टिकोण से रंग भर कर चित्रित करता है। लगभग दो घंटे दृश्य पर दृश्य और पर्दे पर पर्दे बदलते रहने के बाद कहीं नाटककार दर्शकों को चरम सीमा के पास ले जाता है, जिसकी प्रतीक्षा में दर्शक ऊब-ऊब सा जाता है। बड़े नाटक की मंजिल तक पहुँचने के लिये पाँच सीढ़ियाँ होती हैं—प्रारम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम किन्तु एकांकी में केवल तीन—प्रारंभ नियताप्ति (चरम सीमा) तथा अंत। और इसकी चरम सीमा उतनी ही

प्रभावोत्पादक, उत्तेजक, आकर्षक तथा कुतूहलवर्द्धक होती है जितनी बड़े नाटक की।

एकांकी का समय-संकोच अपने भीतर बहुत कुछ समेटे रहता है। समय-संकोच के अन्तर्गत—दूरदर्शिता, प्रभावोत्पादकता, चपलता, निरवार और तत्पश्चात् कविता का एक झीना पर्दा आता है। सेठ गोविन्द दास लिखित 'धोखेबाज' में देखिये—कितने चुस्त, फुर्तीले और चटकीले सम्वाद है। 'रूपचन्द' मुनीम की फुर्ती, उत्सुकता तथा कुतूहलता के साथ-साथ दर्शक चरम सीमा की ओर बढ़ रहा है। सम्वाद के कुछ नमूने देखिये—एक शब्द के बाद दस, बारह शब्द अव्यक्त होकर भी दर्शकों को व्यक्त से ज्ञात होते हैं। रूपचन्द—कौन......कौन......माधो प्रसाद जी......५ हजार गॉंठ वेचूं?...(दाहिने वाले रिसीवर में) वेंच, पॉंच हज़ार गॉंठा माधोप्रसाद री......कसने वेच।......मोती लाल री दो हजार गॉंठॉं?......(दाहिने रिसीवर में)......के?......के?...... कोई लेऊ नई......(बायें रिसीवर में) के......कोई लेऊ नई?...... भाव......के भाव......साढ़े पन्द्रा......

रूपचन्द—के हुयो? वार वैग कौंसिल हो गयो?......कैसे हो सके है?......हुयो है? कुण वेचूं......कुण वेचूं?......सगला बेचूं? (दाहिनी कान के रिसीवर में) के भाव?......छियासी? कोई लेउई नई चाले?......भूकंप हो गयो।......हुयो के? वार वैग कौंसिल हो गयो?

रूपचन्द के एक-एक शब्द में बेचैनी, उद्विग्नता है, कसमसाहट है? वही बेचैनी और कसमसाहट दर्शको के दिल पर सीधा चोट करती है और वे तन्मय हो जाते हैं।

५ एकांकी में दृश्यों का विभाजन उदासीनता का भारीपन कम करने के लिए ही किया जाता है। दृश्यों की विभिन्नता और पृथकता न होने पर दर्शकों के उकता जाने का भय रहता है। लंबे एकांकी में अंको का भी विभाजन किया जाता है। दर्शकों की मानसिक थकान, उनकी प्रकृति

तथा मनोभावों को समझ कर ही यह आयोजन किया गया है, अन्यथा व्यर्थ का तूल कौन करने बैठेगा ?*

अंकों द्वारा दिये गये साधारण विराम से दर्शकों को कथावस्तु के पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करने का समय मिल जाता है। वे उसके पूर्व की घटना से उसका सम्बन्ध जोड़कर आगे की घटनाओं से मिलान करते हैं। इस प्रकार गंभीर वातावरण पर यवनिका डालकर अङ्क और दृश्य परिवर्तन द्वारा नाटककार अपने को तथा दर्शकों को विश्राम देता है। इस अल्प समय में दर्शक पिछले देखे हुये दृश्यों और घटनाओं को अपनी बनाकर आगे के दृश्यों और घटनाओं की प्रतीक्षा में मन लगाता है।

यवनिका पतन—यवनिका पतन का विषय विवादग्रस्त है। प्रश्न उठता है कि नाटक जब द्रुतगति से आगे बढ़ रहा हो उस समय पर्दा गिराना आवश्यक है कि नहीं? इसका एक मात्र उत्तर है—यदि नाटक की एकाग्रता, सिमटाव, संक्षिप्तता और पूर्णता को आघात नहीं पहुँचता तो आवश्यकता पड़ने पर बीच में पर्दा गिराया जा सकता है। और यह क्रिया कई बार की जा सकती है, बशर्ते उपर्युक्त मान्यताओ का हनन न हो। श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का 'छठा बेटा' एक सफल एकांकी है। यद्यपि इसमें कई बार पर्दा उठता और गिरता है। यदि नाटक की त्वरित गति की मध्यान वेला में पर्दा गिरे और पुनः न उठे तो एकांकी बन ही नहीं सकता। एकांकी का विस्तार कई दृश्यों तक जा सकता है (छठा बेटा) किन्तु उसमें एकाग्रता और समग्रता का अभाव न हो।

---

*"To play of one long act most audiences become unresponsive from sheer physical fatigue."
Sir A. Quiller Couch, Shakespeare's Workmanship.

विषय (Theme)—

कोई विचार, कोई कल्पना, कोई अनुभूति जो लेखक को प्रेरणा दे, एकांकी का विषय बन सकती है। विषय के अंतर्गत पात्रों का चरित्र-चित्रण, कोई विशेष अवस्था, कोई मर्मस्पर्शी वातावरण, मनःस्थिति तथा व्यक्तिगत दृष्टिकोण आ सकता है। विषय प्राकृतिक, अप्राकृतिक अथवा आध्यात्मिक हो सकता है। किन्तु नाटककार इन उपादानों के अनोखेपन को ही नाटक की थीम (विषय) बनाता है। किसी व्यक्ति विशेष का चरित्र जो साधारण व्यक्तियों के चरित्र से भिन्न है, जिसमें किसी प्रकार की अनुभूति को सृजन करने की शक्ति हो, जो अपने अद्‌भुत व्यक्तित्व के कारण दर्शक और लेखक दोनों को वशीभूत कर ले, वह एकांकी का विषय बन सकता है। वह चरित्र अपने ढङ्ग का निराला हो सकता है अथवा किसी वर्ग का प्रतिनिधित्व कर सकता है। नाटक की सारी गति-विधियाँ उसी चरित्र विशेष को चरम विन्दु पर ले जाने को उतावली रहती हैं। घटनायें, परिस्थितियाँ तथा मनःस्थिति सब उसकी अनुगामिनी होती हैं।

यदि नाटककार उन घटनाओं, परिस्थितियों और कार्य-कारणों पर ही अधिक जोर देता है जो उस चरित्र के विकास में सहायक होते हैं तो यह स्थिति विशेष पर आधारित नाटक होगा। किसी विशेष वातावरण से मन झकझोरा जाने पर स्थिति. वस्तु, पात्र की सहायता से वह दूसरे प्रकार के नाटक की रचना करता है। सेठ गोविंद दास का "धोखेबाज" इसके अंतर्गत लिया जा सकता है।

एकांकी के कुछ विषय घिसेघिसाये और सैद्धांतिक होते हैं। जैसे 'पाप का परिणाम', 'व्यभिचार का अंत', 'अंध भक्ति', 'जैसा गुरु वैसा चेला', 'वृद्ध विवाह', 'बुड्ढे की जोरू', 'धन की प्यास', 'जहाँ धर्म वहाँ जय', 'युद्ध का दुष्परिणाम', 'विज्ञान का दुरुपयोग'। ऐसा नाटककार आर्य समाज के धर्मोपदेशक से अधिक महत्व नहीं रखता। वह कलाकार

न बनकर प्रोपेगैन्डिस्ट बन जाता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, किशोरीलाल गोस्वामी, बालकृष्ण भट्ट तथा काशीनाथ खत्री आदि लेखकों के कुछ नाटक इसी कोटि के हैं। ऐसे नाटक इतिवृत्तात्मक होने के कारण प्रभाव-शून्य होते हैं। जिस नाटक का विषय ही नाटक की सारी कथावस्तु पर प्रकाश डाल देता है उसे दर्शक रङ्गमञ्च पर आधे मन से देखता है। अतः विषय संकेतात्मक हो, रेखागणित की स्वयंसिद्ध की तरह सर्व-सम्मत न हो।

नाटक की थीम जहाँ तक हो सके, अमूर्त होना चाहिये जो दर्शक की कुतूहलता को अंत तक बनाये रखे। शब्द की 'अविधा' में उतना आकर्षण नहीं जितना लक्षणा और व्यञ्जना में है।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' की 'सूखी डाली' विषय की लाक्षणिकता के कारण मन को मुग्ध कर लेती है। देखिये :—

दादा—"बेटा यह कुटुम्ब एक महान् वृक्ष है। हम सब इसकी डालियाँ हैं।...... ....मैं नहीं चाहता, कोई डाली इससे टूटकर पृथक हो जाय।...............(गला भर आता है) यही मेरी आकांक्षा है कि सब डालियाँ साथ-साथ बढ़ें, फूले-फलें, जीवन की सुखद, शीतल वायु के परस से झूमें और सरसायें। त्रिटप से अलग होने वाली डाली की कल्पना ही मुझे सिहरा देती है।"

उपर्युक्त संवाद से दर्शक कथानक का सहज अनुमान लगा सकता है। कथानक की सीवन पारस्परिक कथोपकथन से खुल जाती है और अंत में सारी कथा अनावृत्त होकर दर्शक के सामने नाच उठती है। अतः यदि दर्शक को नासमझ जानकर नाटककार इसका शीर्षक 'सूखी डाली' न रखकर "कौटुम्बिक सहयोग का सुखद परिणाम" अथवा "संयुक्त परिवार की एक झाँकी" रखता तो दर्शक लेखक को ही लीक पर चलने वाला तेली का बैल समझ हँस देता। कला का सौंदर्य तो दुराव में है। इसके विपरीत सेठ गोविंद दास का "बड़ा पापी कौन" दकियानूसी थीम की

घोषणा करना है। शीर्षक देखते ही दर्शक कथावस्तु का अन्दाजा लगा लेता है।

कुछ लेखक थीम सोच लेते हैं, फिर उसके चौखटे में फिट करने के लिए कथावस्तु ढूँढ़ते हैं। ऐसा एकांकी बच्चों के घरौंदे से ज्यादा स्थायी नहीं होता। इस प्रकार बरजोरी सोची गई थीम में जो कहानी फिट की जायगी उसमें राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक तथा सामाजिक गंदे प्रचार की दुर्गंध मिलेगी। साहित्य के माध्यम से प्रचार किया जा सकता है किंतु कलात्मक ढङ्ग से वर्ना वह साहित्य नहीं पैम्फलेट बन जायगा।

नाटककार कोरा दार्शनिक भी नहीं है। दार्शनिक तो कोरे सत्य के पीछे पागल बना घूमता है। उसके विचार संकीर्ण होकर अपने ही में समाये रहते है; किन्तु नाटककार चलते-फिरते मनुष्यों की विवेचना करता है और अपना सत्य उनके सत्य से मिलाकर दर्शकों के हृदय को भी गुदगुदाता है। दार्शनिक अपने अमूर्त पदार्थों की सत्यता खोजने मे ही अधिक तल्लीन रहता है किन्तु नाटककार थीम के मानवीय गुणों पर ही रीझता है। नाटककार तो अमूर्त को मूर्त बना उसे भी प्रभावोत्पादक बना देता है जिसे दार्शनिक समझने में असमर्थ रहता है।

थीम को कथावस्तु में घुल-मिल जाना चाहिये, उससे पृथक उसकी सत्ता मलाई में रोड़े की तरह खटकने वाली साबित होगी। निरी थीम में किसी नाटकीय तत्व का आभास नहीं मिलता। नाटक की कथावस्तु की ओर संकेत तो होता है किन्तु सीधे-सीधे नहीं व्यंजनात्मक ढंग से होता है। सैद्धान्तिक थीम प्रश्न न बन कर उत्तर बन जाती है। थीम न बनकर स्वयं नाटक की कथावस्तु बन जाती है; कुतूहलता की अपेक्षा विह्वलता जाग्रत करती हैं। अतः सफल नाटककार सम्पूर्ण एकांकी लिखने पर ही थीम की बात सोचता है, ऐसी थीम जो कथा का निचोड़ होते हुए भी पहेली बनी रहे, प्रत्यक्ष होते हुए भी रहस्य छिपाये रहे। कथानक के पात्र और घटनायें विशेष ही थीम को जन्म देती हैं।

प्रत्येक नाटक का झुकाव प्रश्न से उत्तर की ओर, शंका से समाधान की ओर, अँधेरे से प्रकाश की ओर और अनिश्चय से निश्चय की ओर होता है। इसलिये विषय (Theme) का प्रश्न बना रहना ही उसकी महानता है, उत्तर बनने से उसकी मिठास वैसे ही कम हो जायगी जैसे स्त्री से पुरुष बनने में। जब थाम विवादास्पद और अनाटकीय होती है जो भाव-जगत को बिना छुये ही नजरों से गुजर जाय उसे दूर से ही नमस्कार कर लेना ठीक है नहीं तो पूरा एकांकी गुड़ का गोबर बन जाता है।

किसी विचार का उदय परिस्थितियों के आधीन है। परिस्थितियाँ एकांकी की कहानी के अंग·विशेष का काम करती हैं और परिस्थितियों का सिल-सिला एक कहानी की सृष्टि करता है। एक छोटी सी परिस्थिति को लेकर बहुत से एकांकी लिखे जा सकते हैं। अनुकूल पात्रों के समावेश से उसमें सत्यता का आभास होने लगता है और कहानी जीवन के नजदीक खिंच आती है। अत में थीम के सहयोग से नाटक सार्वभौम सत्य हो जाता है।

वास्तव में थाम, पात्र और स्थिति नाटक के प्राण हैं। स्थिति विशेष से नाटक का जन्म बहुत शीघ्र हो सकता है। विशेष घटना चक्र में पड़ लेखक अत्यधिक प्रभावित होकर कुछ लिखने पर बाध्य हो जाता है। किन्तु थोम से भी नाटक का जन्म होता है पर अधिकांश में उपदेशात्मक ढंग के होते हैं। तात्पर्य यह कि थाम, पात्र और स्थिति तीनों में से कोई एक भी नाटक को गति दे सकता है।

मि० हेनरी आरथर जान्स का कथन है कि Never choose for your theme a burning question of the hour unless you wish merely for a success that will burn out in an hour. (Preface to the Divine Gift.)

उक्त कथन विवादास्पद है। लेखक का तात्पय है कि अपने युग की अपने सामाजिक, राजनीतिक अथवा आर्थिक समस्याओं को नाटक का विषय न बनाओ नहीं तो उसका अस्तित्व क्षणिक होगा। उसका चिह्न

पानी पर खींची गई रेखा की तरह क्षण भर में ही लुप्त हो जायगा। फिर आगे आने वाला युग उससे क्या सीखेगा ? वह नाटक उन्हें आनन्द न दे सकेगा, मन न बहला सकेगा। अतः उनके विचारों में मूलभूत प्रेरणा देने में असमर्थ होने पर सिकडी जलाने के काम आवेगी। अर्थात् वह अस्थायी साहित्य होगा जिसका प्रभाव भी जनता के ऊपर अस्थायी होगा। प्रगतिशील दृष्टिकोण से यदि मि० हेनरी के कथा की व्याख्या की जाय तो उसमें बुर्जुआ समाज की गंध मिलेगी। जन-मन को उनकी तात्कालीन परिस्थितियों से अवगत करा के उन्हें स्वप्नों के संसार में ले जाने के तुल्य होगा जहाँ शोषक और पूँजीपति अपनी प्यास बुझाने के लिये शोषित, दलित तथा मध्यम वर्ग की छाती पर मूँग दलता है। साहित्य अपने युग का प्रतिनिधित्व करता है—विशेषकर एकांकी तो चित्र ही खींच देता है। फिर यदि साहित्य में अपने ही युग की बात न मिलेगी, मानव अपने को ही समझने में असमर्थ होगा तो दूसरे युग की स्थायी चीजों से उसे क्या लेना देना ? माना कि युग की समस्या को लेकर लिखे गये नाटकों की अकाल मृत्यु हो जाती है. इसलिये वह अस्थायी है जिसका महत्व बच्चों के फटाके से अधिक नहीं है, जिसमें आग लगते ही बड़े जोरों का धमाका होता है परन्तु मिनट भर में सब शांत। किन्तु बच्चों के फटाकों के क्षणिक अस्तित्व को भी झुठलाया नहीं जा सकता। धमाके के साथ-साथ बच्चों को आनन्द देकर शांत हो जाता है। इसी प्रकार कोई वर्तमान समस्या चाहे वह कल भले ही न हो आज तो है। आज के 'महत्व' को कल के 'अमहत्व' के आगे कैसे थोड़ा मान लिया जाय ? आज का युवक, यदि यह सोचकर कि कल तो बुड्ढा होना है और परसों मरना, भौतिक पदार्थों के प्रति विराग की भावना से भर संसार को छोड़ दे तो संसार कितने जनों का होगा ? और कब तक चलेगा—इसके अन्तर्गत उसकी नश्वरता और अमरता का भी तो प्रश्न उठता है। किन्तु यदि लेखक 'जग बदलेगा किन्तु न जीवन' (बच्चन) के चिरन्तन

विषय की ओर संकेत करता है तो मेरा आक्षेप निराधार है। भारतीय आदर्श, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में से आज के युग ने केवल अर्थ और काम को ही अपने जीवन का लक्ष्य बनाया है। रोटी पानी की समस्या जो आज प्रगतिशील लेखकों के दिमाग को दंड-बैठक करवा रही है—वह विषमता दूर हो जाने पर क्या वे लेखक अपनी लेखनी तोड़ देंगे? आज का वह प्रगतिशील लेखक कल के लिये वह उतना ही अप्रगतिशील और असाहित्यिक होगा जो वर्तमान से ही चिपटा पड़ा है। अतीत और भविष्य की ओर झाँकने वाली उसकी निगाहों मे मास्को का धूमिल चश्मा लग गया है जो यद्यपि उसकी आँखों से मेल नहीं खाता फिर भी औरों को लगाते देख उसे भी लटकाये रहने की इच्छा होती है। धरती पर राम-राज्य भले ही उतर आवे, फिर भी मानव मानव ही रहेगा देवता न बनेगा (फिर देवतागण ही कौन दूध के धोये हैं) राग-द्वेष, प्रेम-घृणा सत्य-असत्य, प्रपंच, हास-रुदन इत्यादि स्थायी भाव उसके जीवन के प्रारम्भिक क्षण से श्मशान तक उसके साथ रहेंगे। फिर इन शाश्वत सत्यों को विषय मानकर लिखा जाने वाला नाटक प्राचीन होने पर भी नवीन ही रहेगा। वह युग-युग तक मानव-समुदाय को प्रेरणा देता हुआ विकलता को सहलाता रहेगा। व्यक्ति व्यक्ति मिलकर समाज की रचना करते हैं। इसलिये व्यक्ति के विकास में ही समाज का विकास है। व्यक्ति को सत्य के सत्पथ से ढकेल कर असत्य और घृणित वातावरण में ले जाना समाज की हत्या करने के तुल्य होगा। अतः व्यक्तिगत मनोभावों का चित्रण नाटककार को अमर कर देगा, उसकी वृत्तियों को समय का आवरण कभी भी धूमिल न कर सकेगा। समाज का वह ठेकेदार न होते हुए भी समाज के प्रति ईमानदार है। किन्तु क्या जीवन रोटी, कपड़ा और मकान पर ही अवलम्बित है? किसी मजदूर को एक सुन्दर महल में स्थापित करके रोटी-कपड़ा देते जाइये, कालान्तर मे वह और कुछ माँगेगा। वही 'और कुछ' चिरन्तन सत्य है। फिर सत्य को न

पकड़ कर परछाईं से क्यों खेला जाय ? जो सचमुच अस्तित्वविहीन होते हुए भी अस्तित्व का आभास दे।

कुछ भी हो नाटक की थीम (विषय) नाटक से दूर खड़ा हुआ नाटककार की खिल्ली न उड़ाये, उसे पूर्ण सहयोग के साथ अपनी विभेद नीति का त्याग करके अभेद नीति अपनाना चाहिये। जिससे सम्पूर्ण नाटक सजीव हो उठे। थीम का अलग होना वहीं तक समीचीन है जहाँ तक वह नाटक में सहयोग दे। जैसे आँख, कान, नाक का अलग-अलग अस्तित्व है किन्तु इनको चेहरे से अलग कर देने पर इनका कोई मूल्य ही नहीं रह जायगा।

नाटक की वस्तु—

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, नाटककार अपने नाटक का उपकरण, उसकी वस्तु जीवन से लेता है, फिर नाटक तैयार हो जाने पर जीवन से उसकी तुलना करता है। नाटककार या साहित्यिक जीवन से बिलगाव नहीं कर सकता। जीवन से किसी प्रकार की भिन्नता नाटक को रूखा बना देगी, उसे मानवीय गुणों से रहित करके बासी और बेतुका कर देगी। नाटककार जीवन से कोई वस्तु चुनकर उसे काटता, छाँटता और सँवारता है, उसके बेडौल आकार में सुघड़ता और कमनीयता का समावेश करता है। फिर अपनी कला के साँचे में ढालकर उसे ऐसा रूप दे देता है जो जीवन से अधिक सत्य, अधिक सुन्दर और अधिक आनंददायक होता है। जीवन वैसे तो बड़ा ही कुरूप, बड़ा ही अनगढ़ तथा अकर्मण्य दोषों से भरा पड़ा है। नाटककार का काम है इन दोषों को दूर करके उसे उपयोगी और आनंददायक बना दे। फलतः उसकी लेखनी से जिस संसार, समाज या आचार की सृष्टि होगी वह तर्कसंगत और दिलचस्प होगी। वह गंदे और धूमिल संसार की भाँति न होकर स्वच्छ दर्पण के सदृश्य होगी जिसमें संसार का प्रतिबिम्ब बहुत ही निखरा हुआ मिलेगा। अपनी बनाई हुई छोटी-सी दुनिया में वह समग्र संसार को समेट

कर रख देता है और अद्भुत कल्पना शक्ति से वर्तमान का ही चित्र नहीं खींचता बल्कि भविष्य की ओर भी संकेत कर देता है। 'जीवन क्या है' के सीमित दायरे में साँस न लेकर 'जीवन क्या हो सकता है' के उन्मुक्त प्रदेश में विचरण करता और कराता है। वह संघर्षमय जीवन के निम्न स्तर से बहुत ऊँचे उठाता है। जीवन में रोना ही नहीं हँसना भी सिखाता है। आँसू बहाकर निरुपाय और लाचार बनकर विश्व को गाली नहीं देता, वह समझौता करना सिखाता है किन्तु ऐसा समझौता नहीं जिससे उसे घाटा हो। वह हिंसा से दूर भागता है; किन्तु न जैनी है, न बौद्ध भिक्षुक। हाँ, उसकी अहिंसा में नैतिक बल होता है, रूस और अमेरिका की ऐटमिक शक्ति नहीं। उसकी दुनिया रचनात्मक है, संहारात्मक नहीं। उसे जीवन से मोह है पर वैसा नहीं जो उसके मानवीय गुणों—क्षमा, दया और प्रेम को उससे छीन ले। वह अपनी लेखनी से अपावन को भी पावन, अग्राह्य को भी ग्राह्य बना देता है जो गिरते हुओं का बल और साहस बन जाता है। उसकी दुनिया न स्टेलिन की है न माओ की, न चर्चिल की न ट्रूमेन की, न जिन्ना की न गाँधी की। इसका तात्पर्य यह नहीं कि इस वर्तमान जगत से उदासीन हो कुछ घोर छायावादी कवियों की भाँति वह क्षितिज के पार उड़ता है। बल्कि नाटककार इसी विश्व को, इसी घृणित और दुर्गन्धपूर्ण वातावरण से एक ऐसे सुगंधित वातावरण की रचना करता है जिसमें स्टालिन, माओ, चर्चिल किसी को भी द्वेष नहीं। इन लोगों की कमजोरियों की ऐसी व्यंगात्मक हँसी उड़ाता है जो हिरोशिमा और नागासाकी पर गिरने वाले ऐटम बम से कम संहारात्मक नहीं होता। अंतर इतना ही है कि ऐटम प्रत्यक्ष खून की होली खेलता है किन्तु यह बिना खून किये ही संपूर्ण संसार का नकशा बदल देता है, जन रुचि, जनमत को अपनी ओर खींच विश्वबन्धुत्व की ओर मोड़ देता है।

दर्शक की रुचि और दृष्टि अतीत से उखड़ कर भविष्य की ओर अड़

जाती है। अतीत तो देख चुका, वर्तमान देख रहा है। दोनों उसे बहलाने में असफल रहे, फिर वह भविष्य की ओर आशामयी निगाहों से निहारता है। इसलिए नाटक में "क्या यह हुआ" के बदले "क्या यह हो सकता है" का वर्णन अधिक मनोरञ्जक और उपयोगी होगा।

जीवन में पुनरावृत्ति बहुत होती है। परिवर्तन होता है किन्तु घूम-फिरकर वे ही घटनायें फिर सामने आती हैं। जीवन और मृत्यु, सुख और दुःख की आवृत्ति जीवन में अनगिनत बार होती है। इसलिये इसमें न नवीनता है न मौलिकता। जो नवीन और मौलिक नहीं उसे पढ़े हुए पाठ का तरह बिना पढ़े छोड़ देते हैं, क्योंकि उसमें न किसी प्रकार का आनंद मिलता है न लगाव। इसलिए सच्चा नाटककार रेडीमेड जीवन को कथावस्तु न लेकर अपनी कोई नई सूझ निकालेगा, मौलिक वस्तु की उद्भावना करेगा जो वास्तव में पुरानी दुनिया से अलग होगी—जिसमें आनंद और अनुभूति मिलेगी। विषय जितना ही सामान्य होगा, जितना ही पिटापिटाया होगा उतना ही वह कमजोर और अनाकर्षक होगा। उसमें उठाने की ताकत न होगी। वह वस्तु कला कला के लिये बन जायगी, जीवन उपेक्षित हो जायगा। विधवा विवाह, बाल विवाह, अछूतोद्धार इत्यादि बहुत बार लेखनी से उतर चुके हैं। इसलिए इनमें और ऐसे अनेक विषयों में मन नहीं रमता। फिर वह नाटककार धर्मोपदेशक और राजनीतिक अखाड़े का कुर्ता-टोपी वाला लीडर बन जाता है जिसकी बातें और नसीहतें बेहद पुरानी और जर्जरित हो गई हैं, जिसे सुनने के लिए सबके कान बंद हो चुके हैं।

जीवन की अमहत्वपूर्ण बातें, अनुत्तेजक घटनायें जीवन का सच्चा प्रतिबिम्ब देने में असमर्थ जानकर नाटककार उन्हें छोड़ देता है। सफल एकांकीकार जीवन की कोई असाधारण घटना तथा कम विश्वसनीय बात का छोर पकड़ कर रचना करता है। (यह अनिवार्य नहीं कि घटनायें असाधारण ही हों, साधारण घटनायें भी काफी जोरदार बनाई

जा सकती हैं।) बनी हुई लीक पर चलना. रूढ़िग्रस्त होने के नाते कुतूहल वर्द्धक नहीं होता अतः अरुचिकर लगता है। नाटक की असाधारण घटना, जिसे कलाकार अपनी कल्पना और प्रतिभा से चटकीला और प्रभावोत्पादक बना देता है, दर्शक को आकर्षित करने में चुम्बक का काम करती है। ओ हेनरी का कथन है कि There never is a story where there seems to be one. यह कथन बहुत कुछ अंशों में सत्य है इसलिए सफल एकांकीकार इसे अपनाता है। नाटककार को अपने नाटक की वस्तु और उपकरण ढूँढने में साधारण से असाधारण की ओर झुकना चाहिये। नाटक जीवन की अतल गहराई में छिपा रहता है, इसलिए जो घटना सुन्दर और आनंददायक हो, चाहे वह घटित हुई हो या नहीं किन्तु उसका घटित होना सम्भाव्य है, नाटक की सबल कथावस्तु बन जाती है। जैसे उन देशों को जाने दीजिये जहाँ के लोग अपनी छोटी बहन से शादी करना अपना महान् गौरव समझते हैं। भारत का उदाहरण लीजिये—जहाँ का सामाजिक आदर्श "मातृवत् पर दारेषु पर द्रव्येषु लोष्टवत्" का सिद्धांत सांस्कृतिक चेतना का आधार रहा है, वहाँ के किसी देश विशेष के किसी व्यक्ति का अपनी सगी माँ से बलात्कार करना नैतिकता और सभ्यता की दृष्टि से बहुत ही निन्दनीय है। ऐसी घटनायें कभी घटी नहीं पर उनका घटित होना असंभव भी नहीं। अथवा पिता पुत्री से अवैधानिक संबन्ध स्थापित करके संतानोत्पत्ति में निरत होता है। ये दोनों घटनायें दर्शकों को असम्भव प्रतीत होंगी। उनकी जिज्ञासा यह जानने के लिए बड़ी सबल हो उठेगी कि किन परिस्थितियों में पड़कर 'अलगू' ने पिता की मृत्यु के उपरांत अपनी माँ को पत्नी बना लिया अथवा स्त्री के मरने पर 'गफूर' अपनो पुत्री को ही पत्नी मानकर उजड़े हुये गृहस्थाश्रम को चला रहा है। "अनुज वधू भगिनी सुतनारी सुनु सठ ए कन्या समचारी" के आदर्श पर चलने वाले भारतीय दर्शक रङ्गमञ्च पर उपर्युक्त असम्भव घटना को घटित होते देख विच-

लिप्त हो उठेंगे। उन्हें कथावस्तु इतनी आकर्षक लगेगी कि लाठी से मारने पर ही शायद उनका ध्यान उधर से उचटे।

इसका तात्पर्य यह नहीं कि केवल असम्भव घटनायें ही नाटक की वस्तु बन सकती हैं। सम्भव घटनाओं से असम्भव घटनायें अधिक रोचक होती हैं। किन्तु असम्भव की अवतारणा करते समय परियों और भूतों के लोक में जाने की आवश्यकता नहीं। घटनायें इसी लोक और इसी जीवन की होनी चाहिये।

पर्यवेक्षण शक्ति तथा जीवन का बृहत् अनुभव नाटक के लिये बहुत सी कहानियाँ दे सकता है। किन्तु यह मानना भ्रामक होगा कि जीवन नाटक का सृजन करेगा। जीवन में अमित विचार और कल्पानायें उठती हैं जो नाटककार को नाटक लिखने का मसाला देती हैं। मनुष्य के पारस्परिक रागद्वेष नाटक की कथावस्तु-भंडार के अक्षय उपादान हैं।

व्यक्ति विशेष उन्नति के शिखर पर पहुँच जाता है अथवा अवनति के गर्त में पड़ा कराहता है; वह अपनी आत्मोन्नति के लिये साम्राज्य को ठुकरा देता है अथवा चंद चाँदी के टुकड़ों के लिये अपनी आत्मा के शाश्वत अधिकार और मर्यादा को बेच डालता है; वह देशद्रोही है या देशभक्त; वह लम्पट है या सदाचारी; रावण है या राम; गोडसे है या गाँधी; उसके जीवन का अवसान सुखद है या दुःखद; इन सब विशेषताओं से नाटककार का कोई विशेष प्रयोजन नहीं। यदि उस व्यक्ति विशेष के जीवन की कोई घटना, कोई बात भावोत्कर्ष में सहायक हो और लेखक के हृदय को छू ले वही वस्तु नाटक की कथावस्तु बन जाती है। उसमें नैतिकता, अनैतिकता; पाप पुण्य की दुहाई देने का अवसर नाटककार को नहीं मिलता; न उस विषय पर उसका कोई अधिकार ही है। उसके जीवन की कोई घटना चाहे समूचे नाटक का मसाला न भी दे सके तो भी कोई विशेष हानि नहीं। थोड़ा संकेत ही काफी है। बाकी, कलाकार अपनी कला और कल्पना से घटा बढ़ा लेगा।

यद्यपि विद्वानों के मत से जीवन में केवल छत्तीस नाटकीय परिस्थितियाँ हैं—संकीर्ण दृष्टि से देखने पर यदि वे छत्तीस भी न दिखाई पड़ें तो इसमें परिस्थितियों का क्या दोष ?—किन्तु सफल नाटककार के लिये वे ३६ परिस्थितियाँ ३६ हजार भी बन सकती हैं। मौलिकता वस्तु और विषय के साथ-साथ नाटककार के दृष्टिकोण तथा उसकी वर्णन शैली में भी होती है।* वर्ण्य विषय प्राचीन और घिसा होने पर भी नाटककार अपनी रचना-कौशल से उसे मौलिक रूप दे सकता है।

नाटककार या साहित्यिक प्रयत्न करने पर अपने व्यक्तित्व को अपनी रचना से अलग नहीं कर सकता। हाँ, अपने दृष्टिकोण के साथ संसार और समाज के दृष्टिकोण का समन्वय अवश्य करता है, ऐसा न करने पर पलायनवादी बन जाता है।

एक व्यक्ति दूसरे की निंदा करे या स्तुति, घृणा करे या प्यार, इतना ही नाटककार की कथावस्तु के लिये काफी है। उसे आलोचना और प्रत्यालोचना में भी कथावस्तु के अनगिनत तन्तु मिल जाते हैं जो अत्यन्त मनोवैज्ञानिक और सत्य होते हैं—एक भी तन्तु मिल जाने पर शेष चीजें नाटककार अपनी कला और कल्पना से जोड़ लेगा।

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, नाटककार को अपनी और दूसरे की आँखों का उपयोग करना पड़ता है। जहाँ उसकी दृष्टि नहीं गई है, जिन परिस्थितियों और संकटों से उसका साक्षात्कार नहीं हुआ है, उनके लिये वह कविता, उपन्यास, कहानी तथा इतिहास के पन्नों को उलट

---

*The Novelty which the dramatist bring to any story is his own point of veiw, his own manner of expressing himself,.his own preoccupations. "The Material of the play", pp. 56 (By Percival Wilde)

सकता है। कभी-कभी इतिहास, उपन्यास या बड़े नाटकों में दो पात्रों का सम्वाद इतना मनोरम और तथ्य मे भरा हुआ साबित होता है कि चतुर एकांकी लेखक उससे अनेक एकांकी लिख सकता है। कभी-कभी सम्वाद की एक पंक्ति में पचीसों एकांकी को प्रेरणा देने की शक्ति छिपी रहती है।

स्व० जयशंकर 'प्रसाद' लिखित 'स्कन्दगुप्त' में शर्वनाग कहता है:- "कादम्ब, कामिनी, कञ्चन—वर्णमाला के पहले अक्षर! करना होगा, इन्हीं के लिए कर्म करना होगा। मनुष्य को यदि इन कवर्गों की चाट नहीं हो तो कर्म क्यों करे? कर्म में एक 'कु' और जोड़ दें। लो, अच्छी वर्ण मैत्री होगी।" इस छोटे से वाक्य से एकांकी की कितनी कथायें गढ़ी जा सकती हैं। गढ़ी तो कितनी गईं फिर भी कादम्ब-घट अब भी रिक्त नहीं हुआ, कामिनी अब भी षोडशी ही है और कञ्चन अब भी झगड़े की जड़ बना हुआ, राज्य की सीमाओं को घटाने-बढ़ाने में योग दे रहा है।

इस प्रकार जीवन में सैकड़ों नहीं हजारों स्रोत ऐसे हैं जहाँ से एकांकी-कथा निरंतर प्रवाहित होती रहती है—हाँ, उस स्रोत को देखने वाली आँखें चाहिये, उस मधुर कलकल को सुनने के लिये असाधारण कान चाहिये। स्रोत के मिलने पर नाटककार अपने व्यक्तित्व तथा हृदय के चटकीले रंग से रंग कर उसे अपना बना सकता है। अपना बनाकर उसे समाज के अमीर और गरीब सब को समान रूप से वितरित कर देता है।

उद्घाटन

एकांकी का क्षेत्र पढ़े-लिखे आदमी के उस छोटे से कमरे के सदृश है जिसमें स्थान की अत्यधिक न्यूनता होने पर भी कमरे की चीजों को इस प्रकार सजाकर रखता है कि बँगले में रहने वाला दाँतों तले उँगली

दर्शाता है। कमरे की एक-एक अंगुल जमीन का उपयोग करता है। दीवाल के कण-कण में सौन्दर्य बिखेर देता है। अतः एकांकी का उद्घाटन दर्शकों के ध्यान को आकर्षित करने वाला, 'विकास' आकर्षण को बढ़ाने वाला, 'अवरुन्धन' आकर्षण को गतिशील करने वाला तथा अन्त आनन्द मग्न कर देने वाला होना चाहिये।

उद्घाटन में अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता है और जहाँ तक बन पड़े वह आकस्मिक न हो। यदि कहानी जोरदार हो तथा घटनायें और दृश्य-विधान साधारण तो एकांकी का उद्घाटन आकस्मिक हो सकता है। यदि कहानी चरित्र-प्रधान हो, कार्य की निष्पत्ति पात्रों द्वारा हो तथा दृश्य-विधान तथा वातावरण रहस्यपूर्ण हों तो उद्घाटन श्लथ होने पर भी दर्शक आगे आने वाली घटनाओं में निमग्न हो जायगा।

प्रत्येक नाटककार कोई न कोई कहानी लेकर चलता है—किन्तु कहानी स्वतः तब तक प्रभावोत्पादक नहीं हो सकती जब तक कि दर्शकों की स्वाभाविक वृत्ति एक घटना से दूसरी घटना पर फिसलती हुई लक्ष्य तक न पहुँच जाय। यदि चरित्र और दृश्य-विधान साधारण हों तो कहानी जोरदार होनी चाहिये और उद्घाटन भी प्रबल। दृश्य विधान यदि किसी मेले का, किसी लड़ाई या नुमाइश का है तो दर्शक उसमें उलझ कर कथावस्तु का विशेष आग्रह न करेगा। किन्तु रंगमंच पर केवल एक दरी बिछा देने से दर्शकों की आँखें पात्रों को खोजती हैं और कान प्रत्येक आहट के लिये सजग हो जाते हैं। इसलिये ऐसे अवसर पर लेखक को एकदम कथावस्तु पर उतर आना चाहिये।

सेठ गोविन्ददास लिखित 'शाप और वर' का दृश्य विधान देखिये :

स्थान—पत्नी का सूतिकागृह

समय—संध्या

[सूतिकागृह आधुनिक ढंग का एक कमरा है। दीवारों में कई दरवाजे और खिड़कियाँ हैं, लेकिन पीछे की दीवार के सब दरवाजे और खिड़-

कियाँ बन्द हैं। दाहिनी ओर बाईं दीवारों के सिरे की ओर केवल एक खिड़की कमरे की हवा साफ करने के लिये खुली हुई है। दीवारें क्रीम डेस्टेम्पर रङ्ग से रँगी गई हैं और उस पर ग्रे रङ्ग की लाइनें हैं।

दीवारों पर कुछ चित्र भी लगे हुए हैं। छत की बिजली की बत्तियाँ झूल रही हैं, जिन पर सुन्दर शेड हैं। बिजली की बत्तियों में इस वक्त रोशनी नहीं है। जमीन पर संगमरमर का फर्श है और उस पर कोई बिछावन नहीं है। पीछे की दीवार के नजदीक आधुनिक ढंग का एक बड़ा सा पलँग है, जिस पर अत्यन्त श्वेत शैया है। इसी पलँग के निकट सफेद रंग का एक लोहे का बना हुआ आधुनिक ढंग का एक छोटा सा पलना है। पलने पर जाली की मच्छरदानी है, जिसके कारण उसके अंदर क्या है, यह स्पष्ट दिखाई नहीं देता। पलँग तथा उसकी मुख मुद्रा से केवल शून्यता का भाव दृष्टिगोचर होता है। उसकी आँखों की पुतलियाँ इधर-उधर चक्कर लगा रही हैं और ऊपर का ओंठ नीचे के ओंठ पर इस प्रकार बैठा है जैसे किसी डिब्बी का ढक्कन हो।]

इस पूरे दृश्य विधान को आँखों और मन से बिना समेटे दर्शकों की इच्छा आगे जानने की न होगी। नाटक की सारी कथावस्तु 'स्त्री' के सम्वादों में निहित है। दर्शक उससे फिर निपट लेंगे, पहले दृश्य से आँखों को क्यों न तर कर लें। बिना दृश्य को भली-भाँति देखे दर्शक अनचाहे मन से आगे की घटनाओं को देखेंगे।

डा० रामकुमार वर्मा लिखित 'श्री विक्रमादित्य' का दृश्य विधान देखिये :

[न्याय सभा का बाहरी कक्ष। एक सिंहासन है जिसके दोनों ओर सिंह की दो विशाल प्रतिमायें हैं। सिंहासन के पीछे एक मेहराव है जिसके मध्य में सूर्य मंडल है। शिल्प कला से सजाये गये पत्थरों पर बेल-बूटेदार आकृतियाँ हैं जिनमें कमल और उसके चारों ओर मृणाल की जाली है। फर्श भी रंगीन पत्थरों का है, उसमें सरोवर की लहरों का आभास है।

मेहराव से हट कर एक वातायन है जिससे कुछ दूर पर क्षिप्रा का प्रवाह दीख रहा है।......सिंहासन पर सम्राट् विक्रमादित्य आसीन हैं। ......उनकी कमर में 'अपराजित' खड्ग कसा हुआ है।......मंच की सीढ़ियों पर दाहिनी ओर एक युवती विभावरी (आयु २२) खड़ी है। ......कंधों पर हरा उत्तरीय और कमर में पीले रेशम का कटिबन्ध। उसका शेष शृङ्गार फूलों का ही है।]

इस नाटक में दृश्य विधान उतना आकर्षक नहीं जितना 'विभावरी' का चरित्र। इसलिये दर्शकों का मन विभावरी को जानने की इच्छा प्रकट करेगा। नाटककार ने इसीलिये इसका आकस्मिक उद्घाटन किया है।

विक्रमादित्य—"आश्चर्य है, उज्जयिनी में तुम्हारा अपमान हुआ?"

इस कथन मात्र से दर्शकों की स्वाभाविक इच्छा विभावरी के रहस्य-मय चरित्र की गुत्थी सुलझाने में लग जायगी। उद्घाटन में तनिक भी देर नाटक को शिथिल और अनाकर्षक बना सकती थी।

तात्पर्य यह कि नाटक का उद्घाटन उसी वस्तु से प्रारम्भ होना चाहिये जो वस्तु उसमें अधिक महत्वपूर्ण हो, जो दर्शकों को तुरन्त बहला सके। परिणामस्वरूप नाटककार को देखना चाहिये कि प्रस्तुत नाटक में कौन सी वस्तु पहले दिखाई जाय जो अधिक उपयुक्त, समयोपयोगी तथा दर्शकों को कुर्सी में जकड़ देने वाली हो।

एकांकी का प्रत्येक पल बहुमूल्य है क्योंकि वह आगे घटित होने वाली घटनाओं को जोड़ता है। इसलिये नाटक की कथावस्तु का सुनिश्चित उद्देश्य, निश्चित पात्र, निश्चित दृश्य-विधान तथा निश्चित समय और स्थान होना चाहिये। ऐसा न होने पर दर्शकगण अबोध बालकों की भाँति प्रश्न करेंगे—'रंगमंच पर ये कौन हैं? यह कौन स्थान है? यह कैसा दृश्य है? यह घटना कब घटित हुई? इस जमघट का तात्पर्य क्या?'

नाटक प्रारम्भ होते-होते पात्रों का पूर्ण परिचय, उनका पारस्परिक सम्बन्ध दर्शकों को दे देना चाहिये। एकांकी में पात्रों की न्यूनता के

कारण यह काम और सहज हो जाता है। किन्तु परिचय देते समय यह सावधानी रखनी होगी कि पात्रों के चरित्र का विस्तृत विश्लेषण पहले ही पहल न दे दें नहीं तो देखने को क्या शेष रहेगा? कभी-कभी पात्रों का परिचय और उनका पारस्परिक सम्बन्ध बताने से नाटकीय विकास में बाधा पड़ती है। उनके परिचय से कहीं अधिक महत्वपूर्ण परिस्थिति तथा वातावरण का परिचय आवश्यक है। घटनाओं के वेग में परिचय तो अपने आप हो जायगा। इसलिये पर्दा उठते ही पात्रों का परिचय दे देने से नाटक की कुतूहलता नष्ट हो जायगी। प्रो० श्री सद्गुरुशरण अवस्थी का 'वे दोनों' एकांकी देखिये।

दृश्य—"एक नितान्त प्राचीन और गंदा इक्का धीरे-धीरे चल रहा है। उसकी उधड़ी सीवन वाली गद्दी के दो ओर दो अधेड़ आयु वाले व्यक्ति बैठे हैं। बीच में एक वृद्ध पार्श्व के अवलम्ब से टिक कर बैठा है। दाहिनी ओर बाईं ओर के व्यक्ति में बड़ी देर तक बात चलती है। बीच में वृद्ध भी सुनता चला जा रहा है।"

नाटक भर में ये तीन पात्र मुख्य हैं। परन्तु एक दूसरे का सम्बन्ध अज्ञात है। यही रहस्य नाटक को चरम-सीमा की ओर ढकेलता है। नाम तो थोड़ी देर में ज्ञात हो जाता है परन्तु पारस्परिक सम्बन्ध अज्ञात के गर्भ में पड़ा-पड़ा चरमसीमा की प्रतीक्षा में है। अतः ऐसी परिस्थितियों में घटनायें और परिस्थितियाँ परिचय कराती हैं, लेखक नहीं।

* प्रो० बेकर का कथन है कि "उद्घाटन का तरीका तर्कसंगत और साफ हो अर्थात् जो कुछ दिखाया जाय वह स्वाभाविक और विश्वसनीय हो। वह तरीका इतना आकर्षक हो कि दर्शकों को चुम्बक के सदृश अपनी ओर खींच ले और साथ ही साथ प्राथमिक उद्घाटन की गति तीव्र और सीधी हो।"

---

* Dramatic Technique, p. 173.

नाटक का सम्बन्ध दर्शकों से स्थापित करने के लिये कुछ नाटक के बाहरी पात्रों का सहारा लेते हैं; किन्तु वह सहारा बेतुका न हो। कलात्मक ढंग से उसका उपयोग किया जा सकता है। कभी-कभी ऐसा भी दृश्य आता है जब रंगमंच पर पात्र तो दिखाई पड़ते हैं पर वहाँ नीरवता छाई रहती है। वे आपस में बातचीत नहीं करते। उनकी मुखाकृति, उनके अंग-संचालन तथा उनकी आँखों की नीरव भाषा से बहुत कुछ संकेत कर देना चाहिये। नहीं तो पात्रों का रंगमंच पर आगमन निरर्थक होगा।

आधुनिक युग में एकांकी नाटकों में प्रदर्शन का बहुत कुछ काम टेलीफोन और पत्रों से लिया जाता है। जहाँ तक टेलीफोन का सम्बन्ध है, उसके विषय में मुझे कुछ नहीं कहना है किन्तु पत्रों का उपयोग बड़े बेढंगे तरीके से किया जाता है। कोई प्रमुख पात्र बिजली की गति से पत्र लिखता है (जो सर्वथा असम्भव है) और उसे पढ़ते समय ऐसा ज्ञात होता है जैसे मुँह में लाउड स्पीकर लगा हो। यह सब अस्वाभाविकतायें दर्शकों को सुनाने के लिये की जाती हैं। पत्र मन में पढ़ा जाता है, वह न तो कवि सम्मेलन की कविता है न आर्य समाजी उपदेश। इसलिये उसका उपयोग पढ़ने की अपेक्षा यदि लिखने में किया जाय तो अच्छा है। वह पत्र दर्शकों को पढ़कर न बताया जाय बल्कि लिखाने वाला किसी को जोर-जोर से बोल कर लिखावे। जब वही पत्र दूसरे पात्र के हाथ में आवेगा तो उसे जोर से पढ़ने की आवश्यकता न पड़ेगी क्योंकि दर्शकगण उसे सुन चुके हैं।

व्याख्या या विवेचना करते समय दर्शकों को इस सीमा तक ले जाना चाहिये जहाँ पहुँचकर वे स्वयं प्रश्न करें। रेडीमेड उत्तर उनकी शंकाओं का समाधान करने में असमर्थ होगा। 'वे दोनों' में दर्शकगण स्वयं दोनों का परिचय पाने के लिये प्रश्न करते हैं। नाटककार थोड़ी देर और उनकी जिज्ञासा को भुलावा देकर आगे ले चलता है—फिर थोड़ा परिचय दे देता है : एक का नाम 'नूरइलाही', दूसरे का "शिवविलास"

बताकर फिर रुक जाता है। दर्शक गण फिर दोनों की मुखाकृति में अद्भुत सादृश्य की भावना से काँप उठते हैं—फिर उनके मुँह पर प्रश्न-वाचक चिन्ह दृष्टिगोचर होने लगता है, जिसका समाधान लेखक चरम सीमा पर करता है।

उलझन (अवरुन्धन)

उलझन का काम है नाटकीय परिस्थितियों और समस्याओं का हल उलझा देना। उलझन कोई अप्रत्याशित घटना चक्र (बाह्य या आंतरिक), अप्रत्याशित दृष्टिकोण तथा अप्रत्याशित परिस्थिति उत्पन्न करके नाटक की गति वक्र कर देती है, जिसे कभी-कभी नाटककार भी नहीं समझ सकता—और दर्शक लोग तो तरह-तरह की कल्पनायें करके मन को संतोष देते हैं। भिन्न-भिन्न दर्शक अपने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से समस्या का निदान सोचता है; किन्तु उसकी धारणा में भी संशयात्मकता का वातावरण पलता रहता है।

डा० वर्मा के 'विक्रमादित्य' एकांकी में उलझन देखिये—विभावरी राजा विक्रमादित्य से कहती है कि ऐसे न्यायप्रिय शासक के राज्य में उसका एक पुरुष द्वारा अपमान हुआ। यह सम्राट् के लिये बड़े कलंक की बात है। राजा अभियोगिनी का विश्वास करके अभियुक्त को बुलाता है—किंतु अभियुक्त कभी अपने को पुरुष बताता है कभी स्त्री। समस्या और भी उलझ जाती है। 'विभावरी' और 'पुष्पिका' दोनों स्त्री वेश में हैं। दर्शकगण यहाँ पर किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं। दर्शकों ने यह कल्पना की थी कि अभियुक्त सामने आने पर सम्राट् विक्रमादित्य की न्याय तुला पर चढ़ कर अपना अपराध स्वीकार कर लेगा। किन्तु अपराध स्वीकार कर लेने पर भी अपने को पुरुष-स्त्री, उभयलिंगी बता कर कथा को और उलझा देता है। दर्शकों की आश्चर्य-मिश्रित निगाहें रंगमंच पर गड़ी हैं। वे मन ही मन पूछते हैं—अब क्या होगा?

विक्रमादित्य और दर्शकों के समक्ष एक नवीन प्रश्न उत्पन्न हो गया—

अभियुक्त पुरुष है या स्त्री ? इससे दर्शकों की दिलचस्पी तो बढ़ी लेकिन साथ ही साथ नाटक की समस्या सुलझने की अपेक्षा उलझ गई। यही उलझन इस नाटक को प्राण देती है और इसके अभाव में नाटक एक जीवन चरित्र का विश्लेषण मात्र बन जाता। उलझन-हीन नाटक में दर्शक जो चाहता है वही होता है, जो आशा करता है वही होता है। इसलिये दर्शक औत्सुक्य की दीवार लाँघ कर डिक्टेटर बन जाता है। वहीं पर नाटक कब्र की वस्तु बन जाता है। पृष्ठ १०६ की तीसरी और चौथी घटना में अनेक उलझने हैं किन्तु पहली में नहीं।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' लिखित 'स्वर्ग की एक झलक' में कोई ऐसी उलझन नहीं है जो नाटकीय समस्या को दिलचस्प बना सके। 'रघु' आधुनिक वातावरण में पला हुआ एक शिक्षित युवक है जो अपनी पूर्व पत्नी के अवसान के बाद किसी उच्च शिक्षा प्राप्त लड़की को पत्नी बनाना चाहता है जो उसकी पूर्ण संगिनी हो, रसोइन और दर्जी न हो। वह अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ है। उसके बड़े भाई शिक्षित लड़कियों के दोषों की तालिका बनाते हैं परन्तु 'रघु' के ऊपर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह अपनी अशिक्षित साली 'रक्षा' से शादी न करके श्रीमती अशोक और श्रीमती राजेन्द्र जैसी पत्नी चाहता है। जब रघु श्रीमती अशोक और श्रीमती राजेन्द्र को अत्यधिक आधुनिक तितली के रूप में देखता है, जिन्होंने अपने पतियों को काफी स्त्रैण बना दिया है, परिणामस्वरूप वे बेचारे अपने दाम्पत्य जीवन को बेगार ढो रहे हैं, तब उसका मन शिक्षित स्त्रियों की ओर से हट जाता है।

दर्शक इतने मूर्ख नहीं हैं कि वे यह न जान सकें कि रघु रक्षा से शादी करेगा अथवा उमा से। इसमें न उलझन है, न उत्सुकता, न चरमसीमा। पूरा नाटक समाचारपत्र के सम्वाददाता की खबर बन कर रह गया है। दर्शक अशोक की पत्नी के दर्शन होने के उपरांत इस धारणा पर पहुँच जाते हैं कि रघु किसी शिक्षित लड़की से शादी न

करेगा। उलझन के अभाव में पूरा नाटक एक साधारण कोटि का इतिहास बन गया है।

उलझनें तीन प्रकार की होती हैं—

कभी-कभी कथा के भीतर से ही एक दूसरी समस्या खड़ी हो जाती है। कभी-कभी पात्रों के चरित्र की दुरूहता से उत्पन्न होती है और कभी-कभी उलझन बाह्य होती है।

संघर्ष

प्रश्न उठता है—नाटकीय परिस्थितियों की कसौटी क्या है? क्या सब विषय ज्यों के त्यों नाटक रचना में सहायक हो सकते हैं? उत्तर है 'नहीं'। नाटकीय परिस्थितियों एवं घटनाओं की भी कसौटी है। उस कसौटी पर उतरने पर ही नाटक लिखा जा सकता है।

कुछ नाटकीय और अनाटकीय परिस्थितियों एवं घटनाओं के उदाहरण से उपर्युक्त बात स्पष्ट हो जायगी :

१. तीस वर्ष की एक लावण्यमयी युवती को फाँसी दी जा रही है। यह घटना कारुणिक और भयानक हो सकती है, नाटकीय नहीं।

२. यदि इसी में यह और जोड़ दिया जाय कि न्यायाधीश की शर्त है—यदि वह अन्य षड्यंत्रकारियों का नाम बता दे तो वह मुक्त की जा सकती है। यह घटना उसके भावी सुख और प्रसन्नता की ओर संकेत करती है, अतः नाटकीय है।

३. वही स्त्री न्यायालय में खड़ी है। सरकारी वकील उसके विरुद्ध गुनाह साबित करने का प्रयत्न करता है। सहसा उसकी दृष्टि स्त्री के मुख-मंडल की ओर जाती है और वह पहचान लेता है कि यह वही स्त्री है जो कालेज में मेरे साथ पढ़ी-लिखी और विकसित हुई; प्रेम और वियोग हुआ। उसी की स्मृति हृदय में सँजोये आजन्म अविवाहित रहने का व्रत कर चुका है। यह घटना हृदय को मुग्ध करने वाली और समस्त नाटकीय तत्वों से भरपूर है।

४. किन्तु वकील की कर्तव्य-भावना प्रेम पर विजय प्राप्त करती है। इसलिये उससे तर्क करता है और गुनाह साबित करते-करते जब चरम-सीमा पर पहुँचता है तो वह स्वयं बेहोश हो जाता है। यहाँ पर वकील के प्रेम और कर्तव्य में अद्भुत द्वन्द्व है। अतः सम्पूर्ण घटना नाटकीय है।

खाना पकाने का सब सामान रसोई घर में है—शक्कर, मेवा, घी और रवा। रसोइया इन सब चीजों के समन्वय से अच्छा हलवा भी बना सकता है और बुरा भी। यह उसके मस्तिष्क और अनुभव पर निर्भर करता है। यह मात्रा अनुपात में रहेगी तो पदार्थ स्वादिष्ट और ग्राह्य होगा—किन्तु शक्कर, घी, रवा और मेवे में से किसी एक के कम या अधिक होने से स्वाद बिगड़ जायगा। इसी प्रकार सुन्दर और आकर्षक नाटकीय स्थिति होने से ही नाटक सुन्दर नहीं बन जायगा। बनाने वाले की कला-कुशलता और प्रतिभा की भी आवश्यकता पड़ेगी।

जैसे किसी व्यक्ति का चरित्र जन्म से मृत्यु तक अपने ऊपर रहस्य का आवरण डाले रहता है, मरने के दो घंटे पूर्व उसके वास्तविक चरित्र का ज्ञान होता है। यदि इस कथन में अतिशयोक्ति है तो हम कह सकते हैं कि किसी व्यक्ति का सम्पूर्ण चरित्र घंटे दो घंटे में नहीं जाना जा सकता। उसे समझने के लिये महीने दो महीने, साल दो साल की आवश्यकता है। किन्तु नाटककार उसे इस प्रकार दिखाता है कि पात्रों से क्षण भर का ही परिचय हमें उनके पूरे चरित्र को निखरे हुए रूप में सम्मुख रख देता है।

संशयात्मकता

उलझन से ही संशय का जन्म होता है। नाटकों में अनिश्चय की भावना पाठकों तथा दर्शकों को आगे की घटना और कथा जानने के लिये बल देती है। प्रत्येक दर्शक की आँखों में इच्छा का साइन बोर्ड झूलता रहता है कि अब क्या होगा? यद्यपि उसका अनुमान पूर्णतः सत्य

नहीं होता फिर भी उस अनुमान पर निश्चय की मुहर लगाये बिना उसे चैन कहाँ ?

नाटक की संशयात्मकता नाटक की अतीत की घटनाओं, कार्य-व्यापारों तथा पात्रों के गठन पर निर्भर रहती है। यदि संशय के पूर्व की घटना विशृङ्खल और उखड़ी-उखड़ी है, पात्रों के क्रिया-कलाप अस्वाभाविक और अविश्वसनीय हैं, कथावस्तु, पात्र तथा परिस्थितियों में अनैक्य है तो संशय की भावना और उसे पैदा करने वाला वातावरण कितना ही जोरदार क्यों न हो, दर्शकों को लुभा न सकेगा। दर्शक पैसे के लोभ से चाहे कुर्सी पर डटे रहें, किन्तु उन्हें आनन्द न मिलेगा। यदि दर्शक पात्रों के क्रिया-कलापों की अस्वाभाविकता से ऊबकर उनसे उदासीन हो गये हैं तो संशय का कोई भी महत्व नहीं रहेगा। इसके विपरीत यदि दर्शकों के हृदय में पात्रों, घटनाओं, परिस्थितियों तथा नाटकीय विकास के कारण एक सहानुभूति उत्पन्न हो जाती है तो अनिश्चय की भावना उन्हें कुर्सी पर बुरी तरह जकड़ देगी। पिछली कुर्सी पर बैठा व्यक्ति उसके कंधे पर अपना पैर रखे है या हाथ इसे देखने का न तो उसे अवकाश रहेगा और न इच्छा। वह तन्मय होकर अनिश्चय की भावना हृदय में छिपाये नाटक के घात प्रतिघात और विकास का निरीक्षण करेगा।

यदि दर्शक नाटक के एक दृश्य को ही देखकर आगे की घटनाओं का सही-सही अनुमान लगा लेता है तो नाटक समाप्त हुए बिना ही वह ऊब जाता है—तब उसे न उलझन की आवश्यकता पड़ती है न संशय की। नाटककार वहीं एक असफल कलाकार की भाँति मुँह फैला देता है।

दर्शक एक दृश्य देखकर आगे की घटनाओं का कुछ-कुछ अनुमान लगा सकता है, या कुछ भी अनुमान न लगा सके अथवा अनुमान लगावे परन्तु गलत, सही अनुमान हो फिर भी उसे निश्चयात्मक रूप न दे सके। इन तमाम परिस्थितियों में उसका संदेह बना रहता है। अनिश्चय और निश्चय के बीच त्रिशंकु-सा लटका रहता है फिर भी उसे

आनन्द आता है। इस प्रकार अनिश्चय में सहानुभूति का स्पर्श बड़ा ही मीठा और मर्मस्पर्शी हो जाता है।

हम देखते हैं कि नाटक में प्रश्नावलियों का उत्तर दिया जाता है। दर्शक प्रश्न करते हैं—पात्र और घटनायें उत्तर देती हैं। किन्तु यदि उत्तर ५×४=२० की भाँति सही और पूरा होगा तो नाटक वहीं समाप्त हो जायगा। उत्तर पाने पर भी दर्शकों का समुचित संतोष न हो, उनके मन में शंका बनी रहे जिसका हल अंत में होना चाहिये। यदि दुर्भाग्यवश अनिश्चय और प्रश्न में संतुलन हो जाय तो नाटक की आकस्मिक मृत्यु हो जाती है—फिर उसे संशय, उलझन और चरम सीमा का अमृत जीवित नहीं कर सकता। इस संशय को जाग्रत करने के लिये नाटक में दर्शकों द्वारा पूछे गये प्रश्नों का उत्तर इस प्रकार देना चाहिये जिससे उत्तर प्राप्त होने पर भी वह नये प्रश्नों की सृष्टि करे। संशय जितना ही तीव्र होगा नाटक उतना ही सफल होगा।

डा० रामकुमार वर्मा लिखित 'समुद्रगुप्त 'पराक्रमांक' में मणिभद्र, घटोत्कच, वीरबाहु, रत्नप्रभा सब सङ्कट में हैं। दर्शकों की सहानुभूति सब पात्रों से है। यहाँ अनिश्चयात्मक स्थिति पैदा होती है—

"तो भांडागार में वे रत्न नहीं हैं?"

धवल०—"यह तो आप ने स्वयं देखा, सम्राट्!" यह उत्तर अधूरा है जो अनेक नवीन प्रश्नों की सृष्टि करता है। विश्वासपात्र मणिभद्र के संरक्षण में रखा हुआ 'रत्न' चोरी कैसे चला गया? मणिभद्र का अब क्या होगा? भगवान् बुद्ध के चरणों में अब क्या लगेगा? उत्तर मिलता है, प्रश्न उठता है। क्रम बना रहता है। इस प्रकार अनिश्चय की उलझन से चरमसीमा का जन्म होता है। चोर का पता नहीं, न्याय नहीं हुआ, किन्तु नाटक समाप्त होने को है। फिर भी दर्शकों की जिज्ञासा शान्त नहीं हुई। उन्हें विश्वास नहीं हो रहा है कि खेल समाप्त हो गया। न्याय होने के पूर्व ही सम्राट् रत्नप्रभा का नृत्य देखने को उत्सुक होते हैं।

धवलकीर्ति और मणिभद्र वहीं पर हैं। दर्शक प्रश्न करते हैं—यह सब क्या? क्या यही न्याय है? उत्तर मिलता है 'हाँ'। प्रश्न उठता है, कैसे? उत्तर मिलता है 'ऐसे'।

नाटककार अनिश्चय के पालने में दर्शकों को यहाँ तक झुकाता हुआ ले आया, फिर चरमसीमा पर आकर एकाएक रहस्योद्घाटन होता है।

एक बार अनिश्चय के अंकुर को जगाकर उसे यदि घटनाओं और परिस्थितियों द्वारा न सींचे तो वह वहीं मुरझा जाता है। उसे नाटकीय चढ़ाव-उतार से जीवित रखना ही सफल एकांकीकार का काम है।

चरम सीमा

चरम सीमा वह गंगा-सागर संगम है जहाँ नाटक की सब घटनायें, समस्त कार्य-कलाप एक होकर सागर रूपी नाटक की सम्पूर्णता में विलीन हो एक समुद्र का रूप दें; सब घटनायें प्रकाशपुंज की भाँति एकत्र हो एक महान् प्रकाश की सृष्टि करें, जहाँ उलझन, अनिश्चय सब सिमट कर एक हो जायँ। असीम में ससीम समाकर दर्शकों को एक ज्योतिर्मय संदेश दे, जहाँ पहुँच कर उनकी सारी समस्याओं का हल मिल जाय, सारे प्रश्नों का संतोषजनक उत्तर मिल जाय, जहाँ वे "यह कैसे?" भूल 'यह ऐसे' कहना प्रारम्भ कर दें।

एकाङ्की की चरमसीमा नाटक के समाप्त होने के थोड़ी देर पहले आती है। यदि इसका प्रादुर्भाव नाटककार भूल से पहले ही कर दे तो नाटक वहीं समाप्त हो जाता है। नाटक का क्रमिक विकास ही प्रभावोत्पादक चरम सीमा की अवतारणा कर सकता है। नाटक की गति बिजली की ट्रेन की गति नहीं है कि स्विच आन करते ही अपनी पूरी चाल से दौड़ने लगे। यह तो इंजन से चलने वाली ट्रेन है जो धीरे-धीरे प्रारम्भ होती है और ज्यों-ज्यों इंजन गर्म होता जाता है, चाल भी बढ़ती

जाती है। इस प्रकार का नाटकीय विकास सफल चरम सीमा की उद्भावना करता है।

आजकल बहुत से ऐसे एकाङ्की लिखे जा रहे हैं जिनमें चरमसीमा नहीं होती। कुछ आलोचकों के मत से चरमसीमा के अभाव में भी एकाङ्की लिखा जा सकता है। किन्तु मेरी समझ में चरमसीमा की आवश्यकता बड़े नाटकों में जब तक पड़ेगी तब तक एकाङ्की को भी उस अधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता—चरमसीमा के अभाव में एकाङ्की नाटक न बनकर भाषण बन जायगा।

फल (संकल्प)

नाटक प्रश्न से उत्तर की ओर, अर्द्ध सत्य से पूर्ण सत्य की ओर, अनिश्चय से निश्चय की ओर, अंधकार से प्रकाश की ओर बढ़ता हुआ अंतिम यवनिका पतन करा कर स्थिर समुद्र की भाँति शांत हो जाता है। मनोरंजन उत्पन्न किया, विकास हुआ, अनिश्चय की दीवाल मोटी होती गई, संघर्ष हुए और चरमसीमा पर जाकर खेल समाप्त हो गया। फल दर्शकों को किये गये वादों का उत्तर है। दर्शकों के मन को गुदगुदाकर, भावना को ऊँची चोटी पर बिठाकर, नाटककार अपने फल का विवरण देता है। दर्शक बिना प्रश्न किये ही शांत हो जाते हैं। वे किसी निश्चित फल पर पहुँचते हैं जहाँ उनकी सारी जिज्ञासायें शांत हो जाती हैं। जो दर्शक खेल के प्रारम्भ से ही प्रेक्षागृह में उपस्थित हैं, फल देखकर उनकी शंकाओं का समाधान हो जाता है। 'मूलभूत' कथा के समन्वय के बिना 'फलागम' दर्शकों को पूर्ण संतुष्ट नहीं कर पाता। इसलिये 'फल' कथानक के अनुसार ही होना चाहिए।

कोई प्रश्न कर सकता है—नाटक के लिखने का उद्देश्य क्या है? फल उत्तर देता है—यह है उसका उद्देश्य।

अंतिम यवनिका पतन में असावधानी और अस्वाभाविकता न होनी चाहिये। असावधानी से मेरा तात्पर्य है कि एकाङ्की के समय-

संकोच के भय से विचलित होकर उतावली के कारण ऐसा अंत न करें जो कथानक या पात्रों के अनुरूप न हो। एकाङ्की का पर्दा उठाना सरल है पर गिराना उतना सरल नहीं। लेखक को सावधानी से निरीक्षण करना होगा—किस घटना, किस सम्वाद, किस पात्र, किस भाव पर पहुँच कर पर्दा गिराना अधिक स्वाभाविक और प्रभावोत्पादक होगा। जहाँ पहुँचकर आगे कुछ कहने को शेष न रह जाय वहीं एकाङ्की पर पटाक्षेप डालना अधिक रुचिकर और स्वाभाविक होगा।

एकाङ्की नाटक की कथावस्तु की रूपरेखा का चित्र मेरी समझ से इस प्रकार है :—
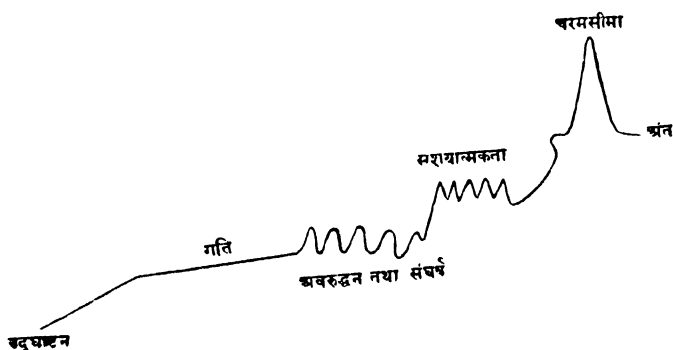
समुद्रगुप्त पराक्रमांक (डा० रामकुमार वर्मा) का उद्घाटन होता है :—"तो अब यह निश्चय है कि भांडागार में वे रत्न नहीं हैं।" फिर कथावस्तु तीव्र गति से आगे बढ़ती है। बढ़ते-बढ़ते मणिभद्र पर आकर रुक जाती है। मणिभद्र अपने पाप का प्रायश्चित्त करने के निमित्त सम्राट् से मृत्यु की भीख माँगता है। कथा उलझ जाती है। आज मणिभद्र के उस विश्वास को चुनौती दी गई है जिसमें दो युगों से पाटलिपुत्र की मर्यादा पोषित होती आ रही थी, जिस विश्वास को कांची और देवराष्ट्र

की संपत्ति सौंपी गई थी। वही मणिभद्र दो हीरक खंडों की चोरी करेगा? सम्राट् के हृदय में दो विरोधी भावनाओं का संघर्ष हो रहा है। क्या मणिभद्र चोर है? हृदय का विश्वास उत्तर देता है, 'नहीं, वह चोर नहीं।' तो क्या धवलकीर्ति चोर है? हृदय की पवित्रता उत्तर देती है, 'नहीं, वह तो राजदूत है और वही रत्नों को लाने वाला व्यक्ति है।' फिर चोर कौन है? सम्राट् न्याय के निमित्त प्रायश्चित्त करना चाहता है। "यदि उन रत्न-खंडों को नहीं खोज सका तो वह अपने राज्याधिकार का ध्यान छोड़ कर भगवान् बुद्ध की प्रतिमा के सामने कठोर प्रायश्चित्त करेगा।" तरह तरह की पूछ-ताछ से कथानक संशय की गोद में पड़कर उलझ जाता है। समस्या का कोई निदान पाने में असमर्थ सम्राट् वीणा बजाने की सोचता है। दर्शक हठात् सम्राट् के मुख मुद्रा की ओर देखते हैं। दर्शकों के मुख पर यह स्पष्ट लिखा है, "सम्राट्! क्या यही न्याय है?" न्याय करते-करते वीणा बजाने की बात कैसी बेतुकी है! किन्तु दर्शकों का संशय बना हुआ है—शायद इस वीणा बजाने में ही कोई हल निकल आवे। किन्तु उनका अनुमान ठीक है या गलत, इसका उन्हें भान नहीं। इस संशयात्मकता से ही चरम सीमा की उत्पत्ति होती है। सम्राट् वीणा बजाते हैं और रत्नप्रभा तन्मय होकर नृत्य करती है। रत्नप्रभा का नृत्य नाटक की चरम सीमा का वातावरण उत्पन्न करता है। नृत्य समाप्त होते ही राजनर्तकी कहती है :—

रत्न०—सम्राट्! राजनर्तकी होकर मैंने एक अन्य व्यक्ति से भेंट स्वीकार की।

सम्राट्—किससे?

रत्न०—सिंहल के राजदूत श्री धवलकीर्ति से।

सम्राट् के चरणों में दो हीरक खंडों का समर्पित करना, धवलकीर्ति की आत्महत्या तथा मणिभद्र की मुक्ति ये तीनों घटनायें फलागम के अन्तर्गत आवेंगी।

पात्र

जीवन के द्वन्द्व जिस प्रकार जीवन को जीवन की संज्ञा देते हैं— उसी प्रकार नाटक में प्राण फूँकने वाला तत्व उसका आंतरिक या बाह्य द्वन्द्व है। नाटककार एक चतुर सरकस के खिलाड़ी की भाँति पुरुष-स्त्री को लड़ाता है; स्त्री-स्त्री को संघर्ष-रत करता है; पुरुष-पुरुष से हाथापाई कराता है; परिस्थिति-परिस्थिति में मुठभेड़ करा देता है; इच्छा-इच्छा में (इच्छायें बुरी हों या भली) द्वन्द्व कराता है और स्वयं तटस्थ भाव से इन खिलौनों के नृत्य को देखता रहता है।—यह नाटकीय संघर्ष नाटक के पात्रों पर निर्भर करता है। मूलभूत कथा (Theme), परिस्थितियाँ तथा घटनायें पात्रों के बिना बेकार हैं। नाटक की रचना पात्रों के अभाव में असम्भव है।

नाटककार और दर्शकों के विचारों को पात्र अपने कंधे पर ढोता है। दोनों को मिलाने वाली वह कड़ी है। वह (पात्र) अमूर्त को मूर्त रूप देता है अतः कार्य के विषय और उसकी वस्तु दोनों एक साथ उसमें समाये रहते हैं। उनकी (पात्रों) तार्किक गति से कथा विकसित होती है। कथा के विकास के साथ-साथ पात्रों के चरित्र में परिवर्तन या परिवर्द्धन होता है।

अतः नाटक में पात्रों का चुनाव बड़ी सावधानी से करना चाहिये। पात्र तीन प्रकार के होते हैं :—एक तो वे जो सीधे-सीधे कर्म में रत हैं। दूसरे वे जो उन्हें कार्य में रत होने का उपादान इकट्ठा कर देते हैं। तीसरे वे जो कलात्मक दृष्टि से उपयोग में आते हैं।

वास्तव में समूचे रूप से कार्य में निरत होने वाले पात्र तो नाटक में इनेगिने होते हैं। नाटक के लघु पात्र नाटक की पृष्ठभूमि तैयार करते हैं। बड़े-बड़े पात्र एक दूसरे के लिये जिस कार्य की पृष्ठभूमि बनाते हैं उसकी अवहेलना नाटक में क्षम्य नहीं। दर्शक अपनी रागात्मक प्रवृत्तियों के कारण स्वभावतः पक्षपाती होता है। जो पात्र उसे अच्छे लगते हैं उनके

ऊपर वह सहानुभूति का वरद हस्त रख देता है, और इसके विपरीत जो पात्र अपने क्रिया-कलापों द्वारा उसे नहीं रुचते वे उसकी घृणा ही पाते हैं। इसी सहानुभूति और घृणा के द्वन्द्व पर नाटक के पात्रों का अस्तित्व भी है—अन्यथा नहीं।

पात्रों का अनुमान दो ढंग से किया जाता है। प्रथम कोटि में पात्रों को इस प्रकार गढ़ना पड़ता है कि उसमें नाटकीय कार्य-गति समा सके। दूसरी कोटि में कार्य-गति को इस प्रकार सँवारना पड़ता है कि पात्र उसमें फिट हो सकें। पहली कोटि में श्री रामकुमार वर्मा का 'रूप की बीमारी' और दूसरी कोटि में 'अश्क' का 'अधिकार का रक्षक' आता है।

एकांकी के गौण पात्र चार तरह से काम मे लाये जा सकते हैं :

१. माध्यम का, २. उत्तेजक का, ३. सूचक का, ४. प्रभावोत्पादक का।

१. स्वगत कथन की अस्वाभाविकता से बचने के लिये प्रधान पात्र के हृद्गत भावों को जानने के निमित्त 'माध्यम' का उपयोग किया जाता है। 'अधिकार लिप्सा' के 'उपक्रम' में अयोध्या सिंह के हृद्गत भावों को प्रकट करने के लिये प्रयागसिंह को 'माध्यम' बनाया गया है।

२. कथा-सूत्र को उत्तेजित करके द्रुत गति से उसे आगे बढ़ाने वाले पात्र 'उत्तेजक' की कोटि में रखे जायँगे। 'रूप की बीमारी' (श्री रामकुमार वर्मा) में 'रूप' अपनी छिपी बात को प्रकट करके कथा को गति देता है।

३. सूचक के अन्तर्गत वे पात्र आते हैं जो नाटक में गति देने वाली कोई सूचना देते हैं जैसे—'सुहाग बिन्दी' (श्री गणेश प्रसाद) में 'डाक्टर'।

४. प्रभावोत्पादक पात्र वे कहे जायँगे जिनकी उपस्थिति से नाटक के प्रभाव में महान् परिवर्तन हो जाता है जैसे—'स्ट्राइक' (श्री भुवनेश्वर प्रसाद) में 'नवयुवक'।

पात्रों के अतिरिक्त उपर्युक्त चार कार्यों के लिये किसी वस्तु या प्राकृतिक व्यापार का भी उपयोग किया जा सकता है। श्री रामकुमार वर्मा लिखित '१८ जुलाई की शाम' में 'तार' और 'मनीआर्डर' उत्तेजक हैं; 'रेशमी टाई' में 'अँगूठी' माध्यम है; सुहाग बिन्दी का पत्र 'सूचक' है; ऊसर (श्री भुवनेश्वर प्रसाद) में 'कुत्ता' प्रभावोत्पादक के लिये प्रयुक्त हुआ है।*

प्रत्येक पात्र का रङ्गमञ्च पर स्वतन्त्र अस्तित्व होता है; और प्रत्येक कार्य के मूल में उसका कारण भी निहित होता है। अतः रङ्गमञ्च पर आने वाले पात्रों को देखकर दर्शक प्रश्न कर उठता है, "इनके आने का प्रयोजन ?" और उन्हें रङ्गमञ्च से बाहर जाता हुआ देखकर फिर प्रश्न करता है "इनके जाने का प्रयोजन ?" यदि रङ्गमञ्च के दृश्य विधान में एक दरवाजा और एक खिड़की ही दिखाई गई हो तो दर्शक फिर प्रश्न करता है, कि "अमुक पात्र मुख्य द्वार से रङ्गमञ्च पर प्रविष्ट हुआ, फिर चोर की भाँति खिड़की से क्यों बाहर जाता है ?" यदि इन प्रश्नों का उत्तर नाटककार अपने पात्रों के कार्य से नहीं देता तो दर्शकों का समाधान नहीं होता, उलटे उनके (दर्शकों) मुँह पर बड़ा सा प्रश्नवाचक चिह्न स्पष्ट दृष्टिगोचर होता रहता है, चाहे नाटक चलता रहे या समाप्त हो जाय। जैसे यदि विद्यार्थी अलजबरे की साधारण प्राबलम (Problem) ए^२+बी^{२}=? या ए^२—बी^{२}=? नहीं समझ सका है तो एल० सी० एम० (लघुत्तम), महत्तम (एच० सी० एफ०) सिखाना व्यर्थ है—वह मुँह बाये ब्लैक बोर्ड की ओर देखता रहेगा क्योंकि गुरूजी से डरता है—इसी प्रकार एकांकी नाटक के प्रत्येक कार्य-कारण, प्रत्येक प्रश्न का उत्तर दर्शक को मिलना चाहिये नहीं तो बीच में ही वह रङ्गमञ्च छोड़कर चला जा सकता है।

---

* हिन्दी एकांकी, पृ० १३०—प्रो० सत्येन्द्र

चारुमित्रा (श्री रामकुमार वर्मा) में अशोक के चले जाने पर तिष्य-रक्षिता रंगमंच पर अपनी भावुकता से लड़ती है और अशोक को संकेत करके कह रही है, "वायु के प्रवाह की भाँति सदैव अस्थिर; अभी आये अभी चले गये। मैं क्या करूँ........" सहसा 'स्वयंप्रभा' रंगमंच पर आती है। नाटककार ने तिष्यरक्षिता से चारुमित्रा के चरित्र की उज्ज्वलता का परिचय कई बार दिलाया है किन्तु चारु उसकी दासी है, अतः पक्ष-पात का भय है। इसलिए दर्शक जब स्वयंप्रभा से चारुमित्रा के चरित्र की विशेषतायें सुनता है तो विश्वास की गहरी साँस लेकर अपनी सारी सहानुभूति उसके ऊपर उड़ेल देता है। देखिये :—

तिष्य०—चारु कहाँ है ?

स्वयं०—............कदाचित् शिविर कक्ष में हो।

तिष्य०—रो रही थी ?

स्वयं०—महारानी उदास तो बहुत थी। ज्ञात होता था कि उसके आँसू सूख गये हैं, किन्तु हृदय रो रहा है।

तिष्य०—आज चारु पर महाराज बहुत अप्रसन्न हुये।

स्वयं०—महारानी, आज तक उससे कभी अपराध तो हुआ नहीं।

तिष्य०—कहते थे कि वह कलिंग की है।.........

स्वयं०—महारानी, आज तक महाराज की सेवा उसने जितनी श्रद्धा और भक्ति से की है, उतनी पाटलिपुत्र की किसी सेविका ने नहीं। वह तो महाराज के अन्तःपुर की अङ्ग-रक्षिका है।......महारानी, महाराज की इच्छा ही उसके कार्य का नाम है। वह कैसे विश्वासघातिनी हो सकती है ?

तिष्य०—कहते थे, राजनीति की दृष्टि दया की दृष्टि नहीं है।

स्वयं०—महारानी, राजनीति भी कोई राजनीति है यदि उससे सच्ची सेवा और सच्चे प्रेम में संदेह उत्पन्न हो जाय !

इसी नाटक का दूसरा उदाहरण लीजिये :

(नेपथ्य में भयानक तुमुल। किसी स्त्री का क्रन्दन स्वर—अशोक का नाश हो......अशोक का सर्वनाश हो !)

एक स्त्री अपने मृतक बच्चे के शव के साथ रंगमंच पर प्रवेश करती है। मृतक बच्चे के शव से रहित अकेली स्त्री सम्भवतः युद्ध की विभीषिकाओं का चित्र उतना भयानक नहीं खींच सकती थी, इसलिये जीवित पात्र के साथ-साथ मृतक पात्र का भी प्रवेश रंगमंच पर वर्जित नहीं, बशर्ते उसकी अनबोल जबान सहस्र जिह्वा बनकर बोल उठे, उसकी मुँदी हुई आँखें सैकड़ों जोड़ी चितवन की ज्योति को लज्जित कर दें।

देखिये :—

माता अपने बच्चे को देखकर कहती है—तेरा खून इतना मीठा है मेरे बच्चे ! राजा तक उसे पीना चाहता है। और खून हो तो अपने नन्हें से कलेजे को सामने रख दे। ये सब मिलकर पी लें।

तिष्य०—क्या तुम्हारा बच्चा मर गया है ? कैसे ?

स्त्री—अशोक राक्षस ले गया मेरे बच्चे को। राज्य नहीं चाहता था मेरा लाल, लेकिन मेरे लाल को अशोक ले गया।

अशोक (आगे बढ़कर)—यह क्या कह रही हो तुम ? ठीक तरह बतलाओ, तुम्हारा न्याय होगा। यह बच्चा कैसे मरा ?

स्त्री—मुझे न्याय नहीं चाहिये। पाटलिपुत्र से न्याय उठ गया। इसके पिता को सैनिकों ने घेर कर मारा और जब मैं इसे बचाने लगी तो इसके फूल से कलेजे में भाला घुसेड़ दिया।.........मेरा छोटा राजा तुम्हारा राज नहीं चाहता था, तब भी इसे......तब भी इसे......

इसी प्रकार सेठ गोविन्ददास के 'अधिकार रक्षक' में छोटे बच्चे, रामलखन नौकर, जमादारिन, कालेज के दो विद्यार्थी तथा स्वयं श्रीमती सेठ का रंगमंच पर प्रवेश सार्थक और सकारण है। प्रत्येक पात्र अपने-अपने दल का प्रतिनिधित्व करता है—इनमें से किसी एक पात्र का अभाव

नाटक को लँगड़ा बना देता। प्रत्येक पात्र घटना-चक्र को ढकेल कर चरम सीमा तक पहुँचाने में अथक परिश्रम करता है।

संयोगवश यदि नाटक में दो ही पात्र हों तो उनका चित्रण इस प्रकार होना चाहिये कि दर्शक की सहानुभूति एक के प्रति अधिक और दूसरे के प्रति कम हो। यदि सहानुभूति का पलड़ा बराबर रहा तो नाटक उतना सुन्दर न होगा। यदि पात्र स्त्री और पुरुष 'वर्ग' में बँट जायँ तो हमारी सहानुभूति का वितरण सदैव असमान रहेगा, क्योंकि दोनों की कार्य-गति और प्रकृति में सादृश्य न होगा। इसलिये दो विरोधी पात्रों के चुनाव से समस्या का हल सहज बन जाता है।

आधुनिक एकांकी में न तो धीरोदात्त या धीर-ललित नायक की आवश्यकता है, न द्विजेन्द्रलाल राय कृत 'शाहजहाँ' के औरंगजेब ऐसे प्रतिनायक की। इन दोनों के अभाव में भी सुन्दर नाटक बन सकता है, बशर्ते नाटक की समस्या का दर्शक दो विभिन्न दृष्टिकोणों से निरीक्षण करें। 'ईद और होली' (सेठ गोविन्ददास) में न तो कोई नायक है, न प्रतिनायक। इसमें ईद और होली की समस्या है जो हिन्दू और मुसलमानों के धार्मिक प्रतीक हैं। इस समस्या पर दर्शक दो विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार करता है, 'रतना' की ओर से होली मनाता है और 'खुदाबख्श' की ओर से ईद। अंत में समस्या का हल जब दोनों त्योहारों के हार्दिक सम्मिलन में होता है तो दर्शक अघा कर, तृप्त होकर प्रेक्षागृह से बाहर जाता है।

नाटक की समस्या को केन्द्रीभूत करने के लिए एकांकी के मुख्य पात्र एक या दो से अधिक न होने चाहिये। दर्जनों मुख्य पात्र दर्शकों के मन को बलात् नाटक की मुख्य समस्या से खींच कहीं और ले जायँगे। जितने ही मुख्य पात्र होंगे उतनी ही दिशा में दर्शकों का ध्यान बँटेगा। फिर उन्हें नाटक देखने में किसी प्रकार का मनोरंजन या संतोष न होगा।

एकांकी में एक मुख्य चरित्र के चारों ओर घटनाएँ चक्कर लगाती हुई उसे विकास की ओर ले जाती हैं, जिससे नाटक सरल और सुबोध बन, जन-साधारण को भी पुलकित कर देता है। उस मुख्य पात्र के अस्तित्व को अवनत या उन्नत करने से नाटक असफल बन जाता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि एकांकी में समय-सङ्कोच अधिक महत्त्वपूर्ण तत्व है, अतः मुख्य पात्र के चुनाव में इस बात का ध्यान रखना सार्थक होगा। इसके विपरीत कभी-कभी जरूरत से कम पात्र लेकर नाटककार समय-सङ्कोच को ध्यान में रखकर आगे बढ़ता है। यह भी तरीका गलत है। दोनों के बीच का रास्ता अधिक समीचीन होगा। आवश्यकता से अधिक या आवश्यकता से कम पात्र नाटकीय तत्वों की हत्या करके नाटक को बेकार साबित करने में सहायक ही होते हैं। छोटे-छोटे पात्र, जो एकांकी की क्षिप्रगति में योग देते हुये अपने अस्तित्व को मुख्य पात्र में मिला दें, नाटक की पृष्ठभूमि तैयार करते हैं। साथ ही साथ वे अपने छोटेपन से बड़ों को प्रकाश में लाते हैं।

नाटक के उद्घाटन के निमित्त यदि एकाध फालतू पात्र उपयोगी सिद्ध हो तो उसका उपयोग एकांकी में किया जा सकता है—बशर्ते उसके अस्तित्व से नाटक को गति मिले।

एकांकी में Type character का प्रतिनिधित्व करने वाले पात्र जिस समाज या समस्या का प्रतिनिधित्व करते हैं, उसमें जान डाल देते हैं। और दर्शक भी समाज का अङ्ग होने के कारण उनसे बड़ी स्वाभाविकता से घुल-मिल जाता है।

नाटककार को यह दिखाने की कोई आवश्यकता नहीं कि अमुक पात्र अमुक कार्य करेगा, उसे इतना ही दिखाना अभीष्ट है कि अमुक पात्र अमुक कार्य कर सकता है। जैसे किसी दुश्चरित्र व्यक्ति का चरित्र-चित्रण करते हुये यह दिखाना अनावश्यक है कि वह मौके की तलाश में है, मौका मिलते ही वह हाथ मारेगा। लेखक का तो केवल उसके चरित्र की

ओर संकेत भर कर देना काफी है कि वह व्यक्ति साधारण मनुष्य से आचरण में गिरा हुआ है।

साधारणतया जीवन में या नाटक में ऐसा देखा जाता है कि किसी व्यक्ति के कार्य सम्पादन में तीन वस्तुएँ—सुविधा (Opportunity), योग्यता तथा प्रवृत्ति बहुत सहायक होती हैं। इनका उपयोग वह अच्छे और बुरे; बड़े या छोटे सब कामों के लिये समान रूप से करता है। योग्यता और प्रवृत्ति न होने पर कितनी ही सुविधाएँ उसे मिलें, इच्छित कार्य नहीं कर सकता। सुविधा न होने पर प्रवृत्ति और कार्य संपादन की असीम योग्यता होने पर भी इच्छित कार्य को सफलतापूर्वक सम्पादन नहीं कर सकता। अर्थात् तीनों में से एक का अभाव काय-विमुख करने के लिये पर्याप्त है। इसी प्रकार नाटककार यदि किसी पात्र से (जिसमें उपर्युक्त विशेषताओं में से एक की भी कमी है) बरजोरी काम कराना चाहता है तो वह नाटक पूर्णरूपेण असफल और निकृष्ट कोटि का हो जाता है।

मानव केवल मानव है, न देवता न दानव। अतः उसमें मानवीय प्रवृत्तियों का होना अनिवार्य है। किसी व्यक्ति में मानवता का भाग अधिक रहता है और किसी में दानवता का। किन्तु मानव में दानव और दानव में मानव अन्तर्हित रहता है। अतः पात्रों का चरित्र-चित्रण सहानुभूति के हलके रंग से करना चाहिये। पात्रों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करके उनके चरित्र के उतार-चढ़ाव दोनों को दिखाना चाहिये। चरित्र का केवल एक पहलू (अच्छा या बुरा) इस जगत के मानव चरित्र से कम मेल खायगा, अतः अस्वाभाविक होगा।

प्रत्येक मनुष्य के जीवन में स्वतन्त्रता तथा आनद की चाह रहती है। वह उस आनंद को प्राप्त करने के लिये सतत् प्रयत्नशील रहता है। उसके जीवन में अभाव है तो वह हमारी सहानुभूति का पात्र है। अपने ध्येय तक पहुँचने के लिये उस व्यक्ति का संघर्ष दर्शकों को द्रवित कर

देगा। हमारी सहानुभूति उसके प्रति उतनी ही होगी जितनी मात्रा में वह जीवन के उपर्युक्त अधिकारों से वंचित है।

समुद्रगुप्त पराक्रमाङ्क (श्री रामकुमार वर्मा) में 'धवलकीर्ति' चोर है, फिर भी दर्शकों की सहानुभूति उसकी ओर खिंच जाती है। दर्शक उसकी मृत्यु नहीं चाहते फिर भी जब वह आत्महत्या करके अपने पाप का प्रायश्चित्त करता है उस समय दर्शकों के हृदय में सहानुभूति का जो रसोद्रेक होता है उसमें धवल के चरित्र की कालिमा धुल जाती है और पुनः वह धवल ही दिखाई पड़ता है। सहानुभूति के लिये नैतिकता और अनैतिकता का प्रश्न विशेष विचारणीय नहीं है। हम परिस्थिति वश पतित चरित्र वाले से सहानुभूति कर सकते हैं और उज्ज्वल चरित्र वाले व्यक्ति से घृणा।

मानवीय चरित्र को जीवन की किसी न किसी वस्तु की अपेक्षा रहती है—दर्शक चाहता है कि इच्छित वस्तु उसे मिले। पापी यदि अपने पाप का प्रायश्चित्त करने के लिये मृत्यु से छुटकारा माँगता है तो वह उसे मिलना चाहिये और दर्शक उसके प्रयत्नों में सहयोग देंगे। किन्तु यदि वह पापी पाप का प्रायश्चित्त किये बिना ही मुक्ति चाहता है तो दर्शक की सहानुभूति उसके प्रति न होगी। अतः सहानुभूति को उद्रेक करने वाली बातें स्वाभाविक, ईमानदार और विश्वसनीय होनी चाहिये। इनके अभाव में सच्ची सहानुभूति का उद्रेक असम्भव होगा।

'औरंगजेब की आखिरी रात' (श्री रामकुमार वर्मा) में औरंगजेब अपने भाइयों की हत्या पर पश्चात्ताप करता है। 'शाहजहाँ' को सात वर्ष तक बन्दी-गृह की दीवालों के भीतर रखने का आघात आज उसके हृदय पर पड़ता है। अपने पुत्रों पर उसने जीवन भर विश्वास नहीं किया, इसका भी उसे दुःख है।

आलम—........आज इस आखिरी रात के वक्त में हमारे बिस्तर के नजदीक हमारा एक भी बेटा नहीं है। (सोचते हुये) हमारे कैदी बच्चो,

तुम बदकिस्मत हो कि आलमगीर तुम्हारा बाप है। तुमने और कोई गुनाह नहीं किया, तुम लोगों का सिर्फ यही गुनाह है कि तुम औरंगजेब के बेटे हो। आज तुम्हारा बाप मौत के दरवाजे पर पहुँच कर तुम्हारी याद कर रहा है......मुअज्जम......आजम......कामबख्श......!

'महाभारत की साँझ'* में लेखक ने दुर्योधन का चरित्र, अतीत के रहस्योद्घाटन द्वारा तार्किक सम्वादों की सहायता से, बड़ा ही निर्मल कर दिया है। महाभारत के चक्रव्यूह में अभिमन्यु को फँसा कर सप्त महारथियों द्वारा अन्यायपूर्वक वध कराने वाले दुर्योधन से दर्शकों एवं पाठकों को घृणा है, किन्तु 'महाभारत की साँझ' के दुर्योधन से पाठक और दर्शक दोनों लेखक की तरह सहानुभूति रखते हैं।

उदाहरण देखिये—लेखक ने हमारी सहानुभूति के कोमल तार को किस प्रकार छू कर झनझना दिया है:

दुर्योधन—(युधिष्ठिर से) राजनियम की चिंता कब की तुमने? अन्यथा इस बात को समझाने में क्या कठिनाई थी कि तुम्हारे पिता के उपरान्त राज्य पर मूल अधिकार मेरे पिता का ही था। वह जिसे चाहते व्यवस्था के लिये सौंप सकते थे।

युधिष्ठिर—पितामह भीष्म, महात्मा विदुर, कृपाचार्य अथवा स्वयं महाराज धृतराष्ट्र ने कभी कोई ऐसी बात नहीं कही।

दुर्योधन—यही तो दुख है युधिष्ठिर, कि तथ्य तक पहुँचने की किसी ने भी चेष्टा नहीं की।......यदि न्याय तुम्हारी ओर था तो भीष्म, द्रोण, कृप, अश्वत्थामा सब मेरी ओर से क्यों लड़े? यहाँ तक कि कृष्ण जैसे तुम्हारे परम मित्र ने भी मेरी सहायता के लिये अपनी सेना दी...... आधा राज पाकर भी तुमने चैन न लिया, तुमने अर्जुन को दिग्विजय...

---

* महाभारत की साँझ; लेखक, भारतभूषण अग्रवाल—यह रेडियो एकांकी 'प्रतीक' (अप्रैल-मई १९५१) में छपा था।

भेजा। जरासन्ध और शिशुपाल का वध किया। यहाँ तक कि जुए में, खेल-खेल में भी तुम अपनी ईर्ष्या नहीं भूले, और तुमने अपना राज्य दाँव पर लगा दिया कि यदि तुम जीतो तो तुम्हें मेरा राज्य अनायास ही मिल जाय। वनवास उसी महत्वाकांक्षा का परिणाम था, मेरा उसमें कोई हाथ न था।

युधिष्ठिर—तुमने......द्रौपदी का अपमान......

दुर्योधन—मेरा भी अपमान द्रौपदी ने भरी सभा में ही किया था। तब तुम्हारी न्याय-भावना कहाँ थी......फिर द्रौपदी को दाँव पर क्यों लगाया......जिस समय द्रौपदी सभा में आई, उस समय वह द्रौपदी नहीं, जुए में जीती हुई दासी थी .....जब भीष्म, द्रोण और कर्ण का वध वीरोचित हो सकता है, तो फिर अभिमन्यु-वध में ऐसी क्या विशेषता थी? (इन उद्धरणों से पाठक की सहज सहानुभूति दुर्योधन अपनी ओर खींच लेता है।)

दुर्योधन का यह तार्किक सम्वाद सुन कर दर्शकों की आँखें गीली हो जाती हैं और वे अपनी सहानुभूति की वर्षा करके उसके पिछले पापो को क्षमा कर देते हैं। नाटककार से इसी प्रकार का चरित्र-चित्रण अपेक्षित है।

किसी पात्र का चरित्र-चित्रण कई ढंग से किया जा सकता है। पात्र अपना चरित्र स्वयं अपने मुँह से वर्णन कर सकता है, अथवा अपने कर्मों द्वारा अपने चरित्र का लेखा-जोखा दे सकता है, अथवा अन्य कोई पात्र उसके चरित्र का विश्लेषण करे या अन्य पात्रों के क्रिया-कलाप से उस व्यक्ति के चरित्र का विकास किया जा सकता है।

यदि कोई पात्र सम्वादों द्वारा अपने चरित्र का विकास स्वयं करे, अपने गुण-दोष स्वयं बतावे तो ऐसा करने से पक्षपात होने का भय रहता है। सम्भव है कि अपना ही चरित्र बताने में पात्र अपने अवगुणों पर

पर्दा डाल दे। चाहे पर्दा न भी डाले तो भी दर्शक को स्वतः वर्णित चरित्र उतना सच्चा न प्रतीत होगा जितना दूसरे पात्रों द्वारा वर्णित उसका चरित्र। दूसरा पात्र यदि सम्वादों के माध्यम द्वारा अन्य पात्रों का चरित्र-चित्रण करता है तो वह अधिक स्वाभाविक और जीवन से मेल खाने वाला होता है। किसी के चरित्र पर पूर्ण प्रकाश न तो उसका मित्र डाल सकता है न शत्रु ही। दोनों के वर्णन में अतिरंजना का भय रहता है। शत्रु का वर्णन ग्राह्य हो सकता है यदि वह अपने शत्रु की प्रशंसा में दो शब्द कहे। किन्तु मित्र द्वारा मित्र की की गई प्रशंसा चापलूसी कहलावेगी। हाँ—एक तीसरा व्यक्ति, जो न तो उसका शत्रु है न मित्र, उस पात्र के चरित्र-चित्रण में न्याय कर सकता है। कभी-कभी व्यक्ति की वेशभूषा, उसकी मुखाकृति, उसकी चाल-ढाल, उसके बोलने के स्वराघात भी उसके चरित्र का धुँधला खाका दे सकते हैं। परन्तु, प्रायः बाह्य उपादानों से चरित्रगत विशेषताओं पर उतना प्रकाश नहीं पड़ता जितना पड़ना चाहिये। उसके अंतर को देखने के लिये कपड़े की तड़क-भड़क, ऊपरी रंग-रूप को देखने की उतनी आवश्यकता नहीं जितनी उसकी प्रकृति की। शत्रु, मित्र या तीसरे अनासक्त व्यक्ति द्वारा खींचा गया उसका चरित्र तब तक सही नहीं माना जा सकता जब तक वह व्यक्ति अपने कार्य व्यापार से उसे प्रत्यक्ष नहीं दिखा देता। वर्णन और कार्य-व्यापार में ऐक्य न होने पर उस व्यक्ति का चरित्र तो दर्शकों की निगाहों में गिरेगा ही, साथ ही साथ वह व्यक्ति जो 'चारण' या चुगल का काम करता है, दूषित और निम्न कोटि के पात्रों में गिना जायगा।

'अधिकार का रक्षक' (सेठ गोविन्ददास) में मि० सेठ का चरित्र उदाहरण में लिया जा सकता है। बाह्य रूप से उनका चरित्र काफी सुन्दर प्रतीत होता है किन्तु उनके क्रिया-कलापों से उनके चरित्र की नीचता की गहराई साफ नजर आती है। मि० सेठ वास्तव में हैं नीच किन्तु बनते हैं उच्च। इस तथ्य के साक्षी और पोषक हैं रामलखन (उनका

नौकर), भगवती (रसोइया), कालेज के दो लड़के, सम्पादक, श्रीमती सेठ तथा नन्हां बलराम ।

मनुष्य के चरित्र में बाह्य रूप से परिवर्तन हो सकता है—और वह परिवर्तन बहुत शीघ्र लाया जा सकता है, परन्तु आंतरिक परिवर्तन साधारणतः देर में होता है। जिसे हम आंतरिक परिवर्तन कहते हैं वह वास्तविक परिवर्तन नहीं बल्कि किन्हीं विशेष परिस्थितियों में पड़ कर उन भावनाओं का दब जाना कहा जायगा, उनका मूलतः विनाश नहीं। कोई पात्र नाटक में अच्छा या बुरा हो सकता है। किन्तु उसे अंत में अच्छा या बुरा बताने के लिये नाटक के प्रारम्भिक काल में उस पात्र को उन्हीं विशेष गुणों या अवगुणों की ओर झुका हुआ दिखाना समीचीन होगा जिन गुणों या अवगुणों की वजह से वह यवनिका पतन के पश्चात् नकली या असली सोने की तरह सामने आता है। आकस्मिक परिवर्तन सर्वथा अवांछनीय है।

जीवन में वस्तुतः देखते हैं कि चरित्र वह छोटा सा नाला नहीं है जिस पर बाँध बना के उसकी धारा को दूसरी ओर मोड़ दिया जाय। हाँ—बरसाती परिस्थितियों के चढ़ाव उतार में वह अपनी दिशा बदल सकता है किन्तु उसकी प्राकृतिक धारा तो वही रहती है जिस लीक पर वह वर्ष के आठ महीने प्रवाहित होता रहता है। ठीक इसी प्रकार किसी व्यक्ति के चरित्र की भी एक निश्चित धारा होती है। समय और परिस्थितियों के अत्यधिक बोझ से घायल होकर चाहे वह अपने कार्यों एवं सिद्धान्तों में परिवर्तन कर दे किन्तु उसका वास्तविक चरित्र बहुत कुछ अंशों में अपरिवतनशील ही रहता है। यह चरित्र परिवर्तन एकांकी के ३०, ४० मिनट के लघु काल में मेरी समझ में सम्भव नहीं। यदि परिवर्तन होता भी है तो वह परिस्थितियों एवं घटनाओं की विशेषता के कारण।

इसलिये चरित्र को परिस्थितियों का अनुगामी मान लें तो ठीक है। किसी चरित्र में परिवर्तन दिखाना अभीष्ट हो तो उसका पर्याप्त कारण

होना चाहिये। किन परिस्थितियों और किन घटना-चक्रों के बोझिल प्रहार से उसके चरित्र की दिशा परिवर्तित होती है—इसका उल्लेख किये बिना पात्रों के चरित्र परिवर्तन की बात करना लेखक की असफलता मानी जायगी। 'चारुमित्रा' (श्री रामकुमार वर्मा) में 'अशोक' का हृदय परिवर्तन इतना आकस्मिक है कि सहसा विश्वास नहीं होता कि कलिङ्ग युद्ध में एक लाख सैनिकों का हत्यारा और चार लाख सैनिकों को भी उसी पाप का पथिक बनाने वाला, कठोर शासक जिसके लिये "कृपा की दृष्टि राजनीति की नहीं होती" का ही सूत्र सब कुछ है। क्षमा, दया और प्रेम को वह शासन और राजनीति का अंग नहीं बनाना चाहता। वह निर्दय जो चारुमित्रा के संगीत और नृत्य में 'भैरवी का तांडव नृत्य' देखना चाहता है—सहसा चारुमित्रा के छोटे से बलिदान तथा एक कलिङ्ग-निवासिनी युवती के शिशु के शरीरांत होने पर युद्ध बन्द कर बौद्ध धर्म की ओर झुकता है। लाखो कराहती हुई साँसें और अनगिनत कलिङ्ग निवासियों की लाशें यदि उसे द्रवित न कर सकीं तो यह दोनों छोटी-छोटी घटनायें उसे कैसे पराभूत कर सकीं ?

नाटककार में, पात्रों के हृदय के भीतर समा सकने की जितनी ही शक्ति होगी, जितनी ही उसमें सहानुभूति और धैर्य की मात्रा होगी उतना ही सजीव चित्रण वह कर सकेगा। नहीं तो समय-संकोच के भय के कारण वह जितनी ही उतावली और अव्यावहारिक ढङ्ग से अपने पात्रों के चरित्रों को पढ़ेगा उतनी ही गलती करने का उसे मौका रहेगा। अतः लेखक को चरित्र-चित्रण करते समय अपने हृदय और मस्तिष्क, आँख और कान सबका उपयोग करना चाहिये। किसी चरित्र को नाटक में उतारने के पहले उसे अच्छी तरह पढ़ना होगा, उसकी रग-रग से आत्मीयता बढ़ानी होगी, उसके चरित्र के कृष्ण और शुक्ल दोनों पक्षों का देखना होगा—तब घटना, कार्य तथा परिस्थितियों के साँचे में ढाल कर अपने मनःस्थित चरित्र को एकांकी के पृष्ठों में उतारना चाहिये। जिस

चरित्र से लेखक स्वयं संतुष्ट नहीं है, जिसकी विशेषताओं से वह स्वयं अपरिचित है, उसे कलम की निर्जीव नोक से कितना प्रभावशाली और ईमानदार बना सकता है ?

पात्रों के नाम से चरित्र का बहुत कुछ आभास मिलता है। किन्तु नाम का बन्धन पात्रों को अच्छा या बुरा बनाने में सदैव सहायक नहीं होता। किसी ऐतिहासिक या पौराणिक नाम से हम उसके चरित्र की कल्पना कर सकते हैं—किन्तु नाटक में वर्णित घटनाओं से कट-छँटकर उसका चरित्र इतिहास और पुराण को भी असत्य कर सकता है। 'महाभारत की साँझ' में दुर्योधन का चरित्र महाभारत के दुर्योधन से भिन्न है।

चरित्र, स्थिति तथा वातावरण का पारस्परिक सम्बन्ध

नाटक लिखने के पहले नाटककार के मस्तिष्क में पात्र, स्थिति और वातावरण का समन्वय अनिवार्य है। यदि थीम (विषय) की उत्पत्ति इन तीनों के सहयोग से हो तो नाटककार का कार्य बहुत आसान हो जाता है। इतना ज्ञात हो जाने पर नाटककार का मार्ग प्रशस्त हो जाता है; फिर गाड़ी खींचने में सफल होता है अन्यथा निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचने में दिशा-भ्रम का संशय रहता है। वह क्या 'लिख रहा है' उसका ज्ञान रहता है।

नाटककार जीवन के जितने ही समीप रहता है, जीवन से जितना ही घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है, उतने ही उसके पात्र सजीव और सत्य होते हैं। इस विशाल विश्व के प्रांगण में अनेक पात्रों को चुन सकता है। अपनी कला की छेनी से उन अनगढ़ पात्रों को ऐसा रूप देता है जो दुनिया के लिये अपनी चिर नवीनता लिये अमरता प्राप्त कर लेते हैं। किन्तु किसी पात्र-विशेष की स्वतः की विशेषताओं से नाटककार सफल नाटक की रचना नहीं कर सकता। बड़े-बड़े प्रसिद्ध पात्र जैसे राम, बुद्ध, दयानंद, टैगोर, नैपोलियन तथा महात्मा गांधी आदि का अपना

स्वतन्त्र अस्तित्व है परन्तु उसके नाम के उपयोग मात्र से ही सफल नाटक नहीं बन जायगा। पात्रों की गतिविधियाँ परिस्थितियों तथा घटनाओं से एकाकार होकर ही प्रभावोत्पादक बन सकती हैं। पात्र तभी जीवित रह सकता है जब उसमें वीरता के साथ क्षमा और दया, सत्य के साथ न्याय और विवेक हो: विपत्ति में धैर्यवान, सुख में गंभीर और सदाचारी और विजय में नम्र बने। इस प्रकार कार्य कारण के सम्बन्ध को स्थापित करते हुये जिस पात्र के चरित्र का विकास किया जायगा वह दर्शकों को शानदार प्रतीत होगा। 'अशोक' (श्री विष्णु प्रभाकर) में कुमार का चरित्र काफी आकर्षक बन पड़ा है।

मान लिया, हम महात्मा गांधी को कथा का मुख्य पात्र बनाना चाहते हैं। अपने कथा-नायक की चरित्र-गत विशेषताओं का दिग्दर्शन कराने के लिये उनका प्रतिद्वन्द्वी कैसा होगा? उनकी सत्य-अहिंसा के विरोध में कैसे पात्र की सृष्टि करनी होगी? किन परिस्थितियों और घटनाओं को चित्रित करना होगा जिससे उनके चरित्र पर सम्यक् प्रकाश पड़े? दर्शक अन्त में किसकी विजय का इच्छुक रहेगा?

इस प्रकार के अनेक प्रश्न पात्रों से उलझकर परिस्थितियों पर पहुँचते हैं और वहाँ से फिर नाटक पर। पात्र यथार्थ और सजीव होते हुए भी परिस्थितियों और घटनाओं से बेमेल होकर निष्प्राण बन जायँगे। जब पात्र स्वयं निर्जीव हो जायँगे तो दर्शकों में कौन सा प्राण संचार करेंगे?

बहुत से नाटककार किसी पात्र से ऐसे उलझ जाते हैं कि उसकी विशेषताओं को दिखाने के लिये पूरा नाटक 'स्वगत' के भँवर में पड़ कर डूब जाता है और नाटककार अपनी कमजोरी का अनुभव तब करता है जब अंतिम पर्दा गिरता है और दर्शकगण गाली देते हुये बाहर जाते हैं। पात्रों के सहारे घटनाओं का अटूट क्रम चरम सीमा की ओर द्रुत गति से बढ़े, दर्शकों में विश्वास पैदा करे और वह परिस्थितियों के

अनुकूल हो, वही एकांकी सफल होता है। 'अधिकार का रक्षक' (श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क') में मि० सेठ के चारित्रिक विकास में रामलखन (उनका नौकर), भगवती (रसोइया), कालेज के दो लड़के, सम्पादक, श्रीमती सेठ तथा नन्हाँ बलराम सब सहायक होते हैं। सब पात्र अपना-अपना अस्तित्व खोकर मि० सेठ को बल देते हैं। परिस्थितियाँ भी सेठ से सहयोग करती हैं। टेलीफोन करते समय बालक बलराम के ऊपर सेठ का क्रोध देखिये—सुअर! कमबख्त! चल निकल यहाँ से। (कान पकड़कर उसे दरवाजे की तरफ घसीटते हैं; बच्चा रोता हुआ बैठ जाता है। फिर नौकर रामलखन भागता हुआ भीतर आता है। साँस फूल रही है।) 'जी बाबू जी।'

(मि० सेठ नौकर को पीटते हैं।)

सुअर! हरामखोर! पाजी! क्यों इसे इधर आने दिया?......... सेठ जी बालक और नौकर पर अत्याचार करते हैं। फिर उनकी टेलीफोन वाली बातें उनके दोहरे चरित्र की ओर संकेत करती हैं। चुनाव में जीतने वाले नेताओं के चरित्र पर लेखक एक करारा व्यंग्य कर रहा है।

सेठ.........तो मैं कह रहा था कि प्रांत में मैं ही ऐसा व्यक्ति हूँ जिसने उस अत्याचार के विरुद्ध आंदोलन किया जो घरों और स्कूलों में छोटे-छोटे बच्चों पर किया जाता है और फिर वह मैं ही हूँ जिसने पाठशालाओं में शारीरिक दंड को तत्काल बन्द कर देने पर जोर दिया। दूसरे अत्याचार-पीड़ित लोग घरों में काम करने वाले भोले-भाले निरीह नौकर हैं, जो क्रूर मालिकों के जुल्म का शिकार बनते हैं।

तात्पर्य यह कि मि० सेठ के चरित्र का कृष्ण पक्ष परिस्थितियों और छोटे-छोटे पात्रों के सहयोग से इतना चटकीला हो जाता है कि दर्शक उसी रंग में रंगा हुआ चरम सीमा पर पहुँच जाता है, जहाँ प्रांतीय असेम्बली के उम्मीदवार मि० सेठ के चरित्र, जो धूर्त नेताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं, की कलई खुलती है।

इसके विपरीत यदि कोई पात्र थोड़ी देर के लिये रङ्गमञ्च पर उछल-कूद मचा कर निष्प्रयोजन चला जाय, उससे नाटक को कुछ भी गति न मिले तो उसका रङ्गमञ्च पर आना नेत्र-पीड़क होता है, इसलिये नाटककार यदि कोई चरित्र-प्रधान नाटक लिखता है तो लिखने के पहले उसे सोच लेना चाहिये कि वह अपनी सोची हुई परिस्थितियों, घटनाओं और विषय (Theme) के संयोग से उस चरित्र को यथार्थ, जीवित और विश्वसनीय बना सकेगा कि नहीं। यदि परिस्थितियों से चारित्रिक विकास का मेल न होगा तो नाटक दर्शकों के हृदय को अछूता छोड़कर समाप्त हो जायगा।

इसी प्रकार यदि परिस्थितियाँ असत्य, अविश्वसनीय तथा बेतुकी हैं तो नाटक 'प्रहसन' बन जायगा। प्रहसन लिखना भी एक कला है। किन्तु नाटक लिखते-लिखते उसे नाटकीय गंभीरता से उठाकर प्रहसन की गुदगुदाती गली में छोड़ देना नाटककार की कमजोरी है। जान-बूझ कर किसी गलत जगह पहुँच जाना दूसरी बात है और भूलकर अनचाही जगह पहुँच जाना हास्यास्पद हो जाता है। स्थिति की महत्ता स्वीकार करते हुये हमें यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि सचाई और सजीव पात्र के घूँघट में छिपी स्थिति का कटाक्ष और भी तीव्र होगा। 'अधिकार का रक्षक' में इसकी सत्यता देखिये।

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि मूलभूत विचार पात्रों की सत्यता, स्थिति की यथार्थता तथा वातावरण की सजीवता एकांकी को सबल, प्रबोधक, दिलचस्प तथा यथार्थ बनाती हैं।

सम्वाद

एकाङ्की नाटक का सम्वाद ही उसका प्राण है। सम्वाद द्वारा ही घटनाओं, परिस्थितियों तथा पात्रों के चरित्र का विकास होता है। इसी डोरी के सहारे नाटककार रंगमंच पर अपने पात्रों को कठपुतली की भाँति

नचाता और दर्शकों के मन में विश्वास भरता है। नाटक का कार्य-व्यापार नाटक की मशीन का इंजिन है जो उसे गति देता है किन्तु सम्वाद उस मशीन का चालक, हैन्डिल है जिससे नाटक की गति की दिशा बदली जाती है; उसमें उत्कर्ष और अपकर्ष लाने का काम सम्वाद द्वारा ही होता है।

सम्वाद चुस्त, अर्थ-पूर्ण तथा पात्रों के अनुकूल होना चाहिये। लम्बे-लम्बे सम्वाद—आर्य समाजी तथा राजनीतिक लीडरों के हितोपदेश—नाटक की गति में शैथिल्य ला देते हैं। सम्वाद उतना ही बड़ा हो जितना एक पात्र आसानी से कंठस्थ कर सके और उसी स्वराघात से रंगमंच पर उगल सके जिसकी अपेक्षा उससे नाटककार करता है। इसलिये सम्वाद जितना ही छोटा, जितना ही मार्मिक और तर्कसंगत होगा दर्शकों को उतना ही ग्राह्य होगा। सम्वाद एक प्रश्न का उत्तर देते हुए दूसरे प्रश्न की सृष्टि कर जाता है, जिससे नाटक द्रुतगति से आगे बढ़ता है।

साधारण नाटककार के सम्वाद सीढ़ी दर सीढ़ी आगे बढ़ते-बढ़ते चरमसीमा तक पहुँच जाते हैं। वे पीछे मुड़कर नहीं देखते। ऐसे सम्वाद य से र, र से ल, ल से व, व से श,......ज्ञ तक क्रम से चलते-चलते पहुँच जाते हैं। इससे नाटक की मनोरंजकता बहुत कुछ कम हो जाती है। उसका संघर्ष मिट जाता है। चरम सीमा का औत्सुक्य नष्टप्राय हो जाता है और दर्शक आँख मूँद कर चरम सीमा की कल्पना कर लेता है। जैसे श्री रामकुमार वर्मा लिखित 'राजरानी सीता' के सम्वाद हैं। नाटककार ने इस एकाङ्की में कहीं भी मौलिकता का दिग्दर्शन नहीं कराया है—ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक 'रामचरितमानस' की चौपाइयों का अनुवाद कर रहा है।

सफल एकाङ्की के सम्वाद वक्र गति से चलते हैं। समझने में सरल और सीधे होते हुये भी उत्तर के साथ-साथ प्रश्न भी छोड़ जाते हैं जिससे फिर पीछे की ओर मुड़ना पड़ता है—किन्तु ऐसा करने से पुनरुक्ति नहीं

होती बल्कि नाटक का विकास दर्शकों की उत्सुकता को बगल में छुपाये, उनकी आँखों को रंगमंच पर अटकाये उत्तरोत्तर चरम सीमा की ओर होता है। उन्हें (दर्शकों को) यह कभी कहने का अवसर नहीं मिलता कि "रहने दो लेखक, आगे का सम्वाद मुझे ज्ञात हो गया, चरमसीमा पक्की सड़क की तरह दीख रही है। बस बंद कर दो। परदा गिरा दो।" उत्तम एकाङ्की के सम्वाद य से र; र से ल; ल से य; य से ल; ल से व; व से र; तक चक्कर मारते हुये 'श' तक पहुँच जाते हैं, जहाँ अज्ञात ज्ञात बन जाता है, दर्शक की शंकाओं का समाधान हो जाता है, उसे अंतिम प्रश्न का उत्तर मिल जाता है और वह अंतिम उत्तर देकर पुनः नवीन प्रश्न को जन्म नहीं देता।

श्री विक्रमादित्य एकाङ्की (श्री रामकुमार वर्मा) के सम्वाद उपर्युक्त ढंग से आगे बढ़ते हैं। सम्वाद सम्राट् विक्रमादित्य से प्रारम्भ होता है। "आश्चर्य है कि उज्जयिनी में तुम्हारा अपमान हुआ!"—सम्वाद यहाँ से बढ़ते-बढ़ते अभियुक्त के पास तक पहुँच जाता है, यद्यपि बीच में कई मोड़ ले चुका है; जैसे :—

विक्रमा०—तुम्हारे पास कोई शस्त्र था ?

विभावरी—हाँ सम्राट्!

विक्रमा०—तुमने इसका प्रयोग किया ?

विभावरी—सम्राट् मुझे आपके न्याय में अधिक विश्वास है।—इस सम्वाद के साथ-साथ, सम्वाद की गति फिर उधर को ही मुड़ जाती है जहाँ से वह प्रारम्भ हुआ था अर्थात् "आश्चर्य है कि उज्जयिनी में तुम्हारा अपमान हुआ!"

अभियुक्त 'पुष्पिका' तक सम्वाद आ जाने पर फिर नाटक आगे बढ़ता है।

सम्राट्०—(तीव्रता से) अभियुक्त से—तुम्हारा नाम क्या है ?

अभियुक्त—सम्राट्, मैं.........मैं.........पुरुष हूँ।

विक्रमा०—मैं जानता हूँ कि तुम पुरुष हो। पुरुषत्व को लज्जित करने वाले पुरुष, तुम्हारा नाम क्या है?

अभियुक्त—(विह्वल होकर) सम्राट्......सम्राट्......मुझे क्षमा करें......मैं......स्त्री......हूँ।

विक्रमा०—क्या तुम पुरुष नहीं हो, अभियुक्त?

अभियुक्त—नहीं सम्राट्, मैं वचन दे चुकी हूँ कि अपने सम्राट् के सामने असत्य भाषण नहीं करूँगी।

नाटक 'य' से 'व' तक आगे बढ़ जाता है। फिर नाटक के सम्वादों में प्रश्न और उत्तर दोनों छिपे हैं। अतः पुनः नाटककार पीछे की ओर मुड़ कर 'र' की ओर झाँकता है यानी विभावरी की ओर दर्शक उत्सुक निगाहों से देखता है; उसकी कुतूहलता बढ़ती ही जाती है। नाटककार अपने नाटकीय सम्वादों के जाल में दर्शकों की उत्सुकता को फँसाये कभी चरमसीमा की ओर ढकेलता है और कभी पीछे लौटा ले आता है। इसी तरह आगे बढ़ते और पीछे लौटते-लौटते नाटक अपनी चरमसीमा पर पहुँच जाता है, जहाँ दर्शक के मुख पर एक हल्की मुस्कान की रेखा खिंच उठती है।

जब एक पात्र लम्बे-लम्बे वाक्य बोलता है तो दूसरे को कम बोलना चाहिये। श्री ना० सी० फडके की 'चिनगारी' में कहीं-कहीं लम्बे-चौड़े सम्वाद नाटक की गति में बड़ी सी खाई-सी बनकर अड़ गये हैं। ये सम्वाद न बनकर छोटे-मोटे भाषण बन गये हैं जहाँ पहुँच कर नाटक अचल बन जाता है—न आगे बढ़ता है न पीछे हटता है और दर्शक बगलें झाँकने लगता है। एक उदा० पर्याप्त होगा :

मीरा—चिनगारी! चिनगारी! पिताजी! एक बार फिर कहिये वह शब्द। आपने वह गाली दी, मगर मुझे वह वरदान है। मैं सचमुच ही चिनगारी बनना चाहती हूँ, जिससे दुनिया के पाप, अत्याचार, नृशंसता, पाशविकता सब भस्म कर दूँ। मेरे अंतर्बाह्य में अग्नि व्याप्त है, इसलिये मैं

सचमुच में चिनगारी ही बनना चाहती हूँ। कोल्हू के बैल से भी बदतर जिन स्त्रियों की......मजदूर स्त्रियों की हालत है, उन पर कतई ध्यान न देने वाले समाज में मैं आग लगाना चाहती हूँ। गरीबों की चमड़े की झोपड़ी में जो भूख की, पीड़ा की, दर्द की ज्वाला धधक रही है, उससे मैं समाज को जागृत करना चाहती हूँ। ये इनके बड़े-बड़े महल और बँगले देखकर आप इन पर फिदा हो रहे हैं। मगर उनके भीतर देखिये, अपने खून की, अपने शरीर की, अपने स्वत्व की ईंटें लगाकर बनाई हुई ये अट्टालिकायें देखकर इन गरीबों की क्या हालत होती होगी! जोंक के समान खून चूस-चूस कर ये बड़े बने हैं। आज आठ दिन से आठ हजार औरतें भूखी हैं। किसी ने उनकी सुध ली? आपके जवाहरात, आपके मकानात, आपके मीठे-मीठे पकवान वे नहीं चाहतीं। वे तो सिर्फ मजूरी चाहती हैं, मजूरी। जी तोड़ परिश्रम का मुआवजा दीजिये। बस यही माँग है। पाँच आने में वे गुजर नहीं कर सकतीं। कहिये, कुछ जवाब दीजिये नरसाप्पाजी!

इतना बड़ा व्याख्यान कंठस्थ करके रंगमंच पर बोलने का न तो किसी अभिनेता में साहस है, न दर्शकों में देखने का धैर्य। इसी कथन को दस पन्द्रह वाक्यों में तोड़ कर रोचक और प्रवाहयुक्त किया जा सकता है। इसे निम्नलिखित तरीके से भी लिखा जा सकता है:—

चिनगारी से लेकर......मेरे अंतर्बाह्य में अग्नि व्याप्त है, यहाँ तक मीरा को बोलने दीजिये। बाद में उसके पिता नरसाप्पा सम्वाद में योग देकर उसे गतिशील बना सकते हैं।

मीरा के पिता—दुनिया के कौन से पाप को भस्म करने की तैयारी है?

मीरा—कोल्हू के बैल...........आग लगाना चाहती हूँ।

नरसाप्पा—लेकिन बेटी! उन्हें मजदूरी तो दी जाती है।

मीरा—मजदूरी ! कैसी मजदूरी ! यह उनकी मजदूरी है ! गरीबों की चमड़े..........करना चाहती हूँ ।

(एक मजदूरनी का प्रवेश)

मजदूरनी—इनके बड़े-बड़े महल और बँगले देख कर आप इन पर फिदा हो रहे है, मगर हमारे भीतर देखिये, अपने खून की, अपने मांस की, अपने स्वत्व की ईंटें लगा कर बनाई हुई इन अट्टालिकाओं को देख कर हम गरीबों की क्या हालत होगी !

राव और नरसाप्पा दोनों चिल्ला कर—अरे है कोई, निकालो इस औरत को ।

मजदूरनी जाते-जाते कहती है—जोंक के समान खून चूस कर आप बड़े हुये हैं ।

(नरसाप्पा मजदूरनी के बाल पकड़ कर बाहर घसीटते हैं ।)

मीरा—हाँ-हाँ ! बाल पकड़ कर घसीटो ! आज आठ दिन से आठ हजार औरतें भूखी हैं । किसी ने उनकी सुध ली ?

नरसाप्पा—तो क्या उन्हें अपनी मिल ही सौंप दूँ ? हम उनकी तरह मजूरी करें ?

मीरा—आप के जवाहरात, आप के मकानात, आप के मीठे-मीठे पकवान वे नहीं चाहतीं ।

बाप—(डाँट कर) फिर क्या चाहती हैं ?

मीरा—वे तो सिर्फ पूरी मजूरी चाहती हैं, मजूरी । बस यही माँग है ।

बाप—पाँच आने रोज के तो मिलते हैं ।

मीरा—जी तोड़ परिश्रम का मुआवजा दीजिये । पाँच आने में गुजर नहीं हो सकती । कहिये, कुछ जवाब दीजिये नरसाप्पा जी !

उपर्युक्त संवादों में बातें लगभग वे ही हैं, किन्तु लम्बे-चौड़े भाषण जैसे संवाद को छोटे-छोटे वाक्यों में रख देने से नाटक का प्रभाव दुगुना हो जाता है ।

सम्वाद एकांकी का एक उपादान मात्र है. अतः यह साधन है साध्य नहीं। अस्तु, जो सम्वाद नाटकीय घटनाओं को, संघर्ष करते हुये मनोभावों या पात्रों को चरमसीमा तक सफलता पूर्वक पहुँचा दे, वही अच्छा कहा जायगा। यदि दर्शक नाटक के कार्य-व्यापारों एवं उसकी गति को भूल कर, नाटक की घटनाओं से आँख न मिला कर सम्वाद की ही मोहकता में फँस जाय तो ऐसा सम्वाद एकांकी के लिये अहितकर होगा। वह नौकर ही किस काम का जो मालिक का ही अस्तित्व खतरे में डाल दे! अतः सम्वाद सरल, सरस और नाटकीय होना चाहिये। अधिक अलंकृत भाषा में बे सिर पैर का सजाया हुआ सम्वाद, जो न तो पात्रों के चारित्रिक विकास में ही कोई सहायता करता है और न घटनाओं को मनोरंजक बनाता है बल्कि नाटक की तीव्र गति में उसका पैर पकड़ कर पीछे ढकेलने में मदद करता है, एकांकी के लिये सर्वथा अनुपयुक्त और बेकार है।

पात्र और सम्वाद

सम्वाद की भाषा पात्रों के अनुकूल होनी चाहिये। यदि पात्र सुशिक्षित और विद्वान् है तो उसकी भाषा प्रौढ़ और परिमार्जित हो सकती है। पात्र दार्शनिक है तो उसकी बातों में दार्शनिकता की एकाध झलक सोने में नग-सी चमक उठेगी। यदि पात्र गाँव का अपढ़ किसान है तो उसकी भाषा अत्यन्त शुद्ध और परिमार्जित होने का दावा तो नहीं कर सकती किन्तु जो कुछ भी वह टूटी-फूटी भाषा में बोले वह समझ में आ जाना चाहिये। अन्यथा भोजपुरी बोलने वाला पात्र महाराष्ट्रीय या गुजराती दर्शकों के सामने उपहास की वस्तु बन जायगा।

'स्कन्दगुप्त' में जयमाला कहती है, "युद्ध क्या गान नहीं है? रुद्र का शृङ्गीनाद, भैरवी का तांडव नृत्य, और शस्त्रों का वाद्य मिल कर भैरव संगीत की सृष्टि होती है। जीवन के अंतिम दृश्य को जानते हुये......

ध्वंसमयी महामाया प्रकृति का वह निरंतर संगीत है......अत्याचार के श्मशान में मङ्गल का, शिव का, सत्य सुन्दर संगीत का समारम्भ होता है।" यही बात यदि एक १० वर्ष के बालक या बालिका से रंगमंच पर कहलाई जाय तो वह बहुत ही बेतुकी, अप्रासंगिक, अस्वाभाविक और अविश्वसनीय होगी। अतः पात्रों के अनुरूप ही उनकी भाषा और भाषागत भाव होने चाहिये। कभी-कभी लेखक अपना पथ भूल कर साहित्यिक उन्माद में अपनी बोझिल शैली से नाटक का गला घोंट देता है। एकांकी में यह अक्षम्य अपराध है।

नाटक के चढ़ाव-उतार के साथ-साथ सम्वाद में भी उत्थान-पतन होना चाहिये। एक ही व्यक्ति नाटक की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न शब्दों और वाक्यों के सहारे अपने मन की बात व्यक्त करता है। शृङ्गार, करुणा, शांत, रौद्र, वीभत्स इत्यादि विभिन्न रसों की अवतारणा करने के लिये उनके अनुकूल भाषा और भाव होने चाहिये। साथ ही साथ लेखक को यह भी देखना होगा कि शब्दों से ही भाव का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं होता। पात्रों के बोलने के ढंग और उनके स्वराघात में उलझ कर साधारण शब्द भी बहुत गंभीर और अनेकार्थी बन जाता है।

"जी हाँ" शब्द को ले लीजिये :

"भोजन कर लिया ?"

"जी हाँ।"

"अपनी कंघी मुझे दोगे ?"

"जी हाँ, मुँह शीशे में देख लो !"

"तुम्हे अपराध स्वीकार है ?"

"जी......जी......जी इइइ......हाँ-हाँ ऽऽऽ हाँ-स्वीकार है।"

"तुम्हारे पिता बड़े दानी थे, लाखों का दान कर दिया करते थे, तुम एक पारकर पेन भी मुझे दान नहीं कर सकते ?"

"जी हाँ ऽऽऽ आ......क्यों नहीं; क्यों नहीं !"

एक ही शब्द "जी हाँ" विभिन्न परिस्थितियों और स्वराघात के वात्याचक्र में पड़कर अनेकार्थी बन गया है। इसे कागज पर लिखकर उतनी सुन्दरता और स्वाभाविकता से नहीं व्यक्त किया जा सकता, जिस खूबी से रंगमंच पर।

एकाङ्की का सम्वाद न तो कोरा तर्क-जाल है, न वाद-विवाद की नीरस सीढ़ी। कोरा तर्क-जाल और वाद-विवाद के झुरमुट में दर्शक उलझने नहीं जाता—उसे मनोरंजन चाहिये; ऐसा मनोरंजन जो स्वस्थ हो, सुन्दर हो और नाटक को बढ़ाने में सहायक हो।

सम्वाद की पुनरावृत्ति भी किसी नवीनता की द्योतक होनी चाहिये। व्यर्थ की पुनरावृत्ति नाटक की असफलता मानी जायगी। मालिक अपने नौकर को सम्बोधन करके कहता है—"हट जा सुअर मेरी नजरों के सामने से नहीं तो खाल निकलवाकर भूसा भरवा दूँगा।"

नौकर—जी......जी इइइ......जी......सरकार......जी......

हाथ जोड़कर जी जी सरकार कहता हुआ नौकर पीछे खिसकता जाता है। अब इस 'जी ! जी !' की पुनरावृत्ति में नौकर की मुक्ति, उसकी प्रसन्नता, उसका भय, उसकी विनम्रता और अपराध की गुरुता के साथ-साथ यह भी सम्मिलित है कि 'सरकार' अबकी बार मुझे क्षमा कर दो, अब ऐसा कसूर कभी नहीं करूँगा।'

बहुत से पात्र चरमसीमा पर पहुँचकर इतने जोर से रंगमंच पर दहाड़ते हैं कि कान के पर्दे फट जाते हैं। जोर-जोर से चिल्लाने पर चरम सीमा नहीं आ जाती। वह तो पूर्व-घटनाओं और परिस्थितियों की अनुगामिनी बनकर आती है। प्रत्येक सम्वाद के पीछे पात्रों का चरित्र छिपा रहता है, अतः सम्वाद संयत और पुष्ट हो। अपने हृदय में भाव, विचार, उत्कर्ष, अपकर्ष इत्यादि को छिपाये धीरे-धीरे आगे बढ़ने वाला सम्वाद नाटक को सफल बनाने में बहुत कुछ योग देता है।

प्रहसन या भाँड़ इत्यादि के लिये यह सिद्धान्त अनिवार्य नहीं। उसमे

बेतुके और कार्य-कारण से मेल न खाने वाले सम्वाद दर्शकों को अधिक प्रिय होते हैं।

सम्वाद में 'स्वगत' कथन अस्वाभाविक माना जाने लगा है। यह वर्तमान युग की भेंट है। इसका विवेचन मैं श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों की आलोचना में कर चुका हूँ। यहाँ इतना ही कह देना पर्याप्त समझता हूँ कि 'स्वगत' का प्रयोग परिस्थितियों की अनुकूलता और प्रतिकूलता पर निर्भर करता है। अंत में सम्वादों में हास्य, व्यंग, श्लेष तथा वाक्य वैदग्ध्य का सहारा लिया जा सकता है किन्तु आवश्यकता से अधिक नहीं।

कला (टेकनीक) का प्रयोजन

काव्य-कला, नाट्य-कला, उपन्यास कला, कहानी-कला—इसी प्रकार संसार में बहुत सी मोहक वस्तुयें हैं जिनके आगे पीछे 'कला' का नाम जोड़ा जा सकता है। किन्तु कला की सीमा रेखा में उपन्यास, नाटक, कहानी अथवा कविता आदि किसी भी साहित्य के अंग को बाँधना उसे कैदी बनाकर जेल के सींखचों में बन्द करने के तुल्य होगा। कला वहीं तक ठीक है, नियम-उपनियम तथा सिद्धान्त वहीं तक ग्राह्य हैं, जब तक सम्बन्धित वस्तु को उसके नियम आत्मसात न कर लें। यदि छन्द, अलंकार के बन्धनों में जकड़ी तुकबन्दी ही कविता की संज्ञा प्राप्त कर ले और आलोचक (रूढ़िवादी) उसे ही कविता मानकर 'मनहरण' और 'अतिशयोक्ति' को कविता की कसौटी मान लें तो इससे बढ़कर मूर्खता और क्या होगी ? फलतः कविता की अकाल मृत्यु होगी और उसके बंधन छिन्न-भिन्न होकर बिखर जायँगे, क्योंकि बन्धन कविता की आत्मा 'रस' की हत्या करते हैं।

ऐसा वस्त्र किस काम का जिसके धारण करने पर भी नग्नता छिप न सके ? इस तरह कला (Technique) या नियम के संकीर्ण

चौखटे में साहित्य को बन्द करने से उसका दम घुट जायगा। और दम घुटाने वाले विषाक्त वायु मंडल से निकला हुआ साहित्य क्या आदर्श सामने रखेगा? समाज और देश का कितना कल्याण करेगा? सांस्कृतिक उत्थान में किस प्रकार योग देगा?

दाल में नमक सब खाते हैं किन्तु जब नमक की एक डली बिना घुले हुये दाँतों के नीचे पड़ती है तो वह ग्रास मुँह से भीतर न जाकर बाहर आ जाता है। नमक के बिना दाल फीकी लगेगी—किन्तु दाल में नमक घुल जाना चाहिये। उसकी स्वतन्त्र सत्ता जो दाँत या जीभ से भासित हो सके अरुचिकर होगी। ठीक इसी प्रकार एकाङ्की के नियम, उपनियम और टेकनीक सामने रखकर यदि लेखक रचना करेगा तो सम्भवतः वह सफल न होगा। नियम और टेकनीक का दास न बन कर उन्हें दास बना लेने से ही सफल एकाङ्की बन सकता है। नाटक का टेकनीक नाटक में घुल मिल जाय तभी उसकी शोभा है; तभी नाटककार अपने प्रयास में सफल होता है, अन्यथा नहीं।

नाटककार टेकनीक के सहारे नाटक की सम्पूर्णता और सफलता को कुछ दृश्यों में समेट लेगा। ये नियम उसे पक्की सड़क का काम देंगे जिस पर अँधेरी रात में भी चल सकता है। किन्तु यदि पथिक अपाहिज, लुंज और अस्वस्थ है तो तारकोल की सड़क की कौन कहे, संगमरमर की भी सड़क उसे आगे बढ़ाने में सहायक न होगी, वह कहीं मार्ग में ही ढुलका रह जायगा। इसी प्रकार नाटककार यदि प्रतिभाविहीन, अकाल्पनिक तथा अदूरदर्शी है तो केवल टेकनीक उसे सफल नाटककार नहीं बना सकता। हाँ—भूले हुये राही को सड़क मार्गनिर्देशन का काम कर सकती है—किन्तु घर पहुँचने के लिये उसे दिशा-ज्ञान और सामान्य ज्ञान का होना आवश्यक है। नाटककार की सृजन-शक्ति इसी प्रकार टेकनीक की सहायता से बढ़ जाती है। सम्भवतः इसके अभाव में वह प्रतिभा रखते हुये भी सफल नाटककार न बन सके।

यदि दर्शक का चित्त कथावस्तु तथा दृश्यविधान से उचट कर उसके टेकनीक पर चला जाय तो नाटक असफल होगा। तात्पर्य यह कि नाटक के टेकनीक का होना अनिवार्य है, किन्तु टेकनीक के पीछे लाठी लेकर दौड़ लगाना भी ठीक नहीं। सफल एकांकीकार टेकनीक को अपने रचना-कौशल में इस प्रकार छिपा लेता है कि उसका (टेकनीक) कोई बाह्य रूप दिखाई नहीं पड़ता। Art is never effortless, but it must appear so, यही बात टेकनीक के विषय में भी कही जा सकती है।

एकांकी नाटकों का वर्गीकरण*

प्रकार-भेद के आधार पर हिन्दी एकांकियों का वर्गीकरण कर पाश्चात्य प्रणाली के आधार पर प्रो० अमरनाथ ने निम्नलिखित प्रकार बताये हैं—

१. समस्यामूलक एकांकी—किसी समस्या को लेकर जिसका निर्माण किया जाय।

२. खुले स्थान पर खेले जाने वाले एकांकी—जिन्हें Fantasy भी कहते हैं।

३. प्रहसन—जिसमें लेखक का ध्येय दूसरों को हँसाना होता है।

४. Serious गंभीर एकांकी।

५. ऐसे एकांकी जिनमें लेखक का ध्येय किसी घटना, किसी देश के रीति-रिवाज पर कटाक्ष करना होता है।

६. मेलोड्रैमेटिक एकांकी—किसी के दुःख में दुःखी होने के बदले जब हम हँसते हैं तब घटना Melodramatic हो जाती है।

७. ऐसे एकांकी जिनका अन्त आनन्दमय है परन्तु जिनका विषय मजदूरों आदि का जीवन है।

* हिन्दी एकांकी—प्रो० सत्येन्द्र

८. ऐतिहासिक एकांकी।

९. व्यंग्यात्मक एकांकी।

१०. स्वाङ्ग के ढंग के एकांकी।

११. Cockney एकांकी—मजदूरों की विकृत भाषा में लिखे गये एकांकी।

१२. सामाजिक नाटक।

प्रो० नगेन्द्र ने भी कुछ प्रकारों का उल्लेख किया है :—

१. सुनिश्चित टेकनीक वाला एकांकी—जिसमें संकलन त्रय हो तो श्रेष्ठ नहीं तो प्रभाव और वस्तु का ऐक्य अनिवार्य, स्थान और काल की एकता का निर्वाह भले ही न हो।

२. संवाद या सम्भाषण जैसे पं० हरिशंकर शर्मा के 'चिड़िया घर' के हास्य व्यंग्यमय संवाद।

३. मोनोड्रामा—स्वगत का ही परिवर्धित रूप जैसे 'चतुष्पद' (सेठ गोविंददास)।

४. फीचर—यह अत्यन्त आधुनिक प्रयोग रेडियो का आविष्कार है। इसका स्वरूप प्रायः सूचनात्मक होता है—इसमें किसी विषय विशेष पर प्रकाश डालने के लिये उससे सम्बद्ध बातों का नाट्य-सा किया जाता है; जैसे—प्रेमचन्द की दुनिया, दिल्ली की दीवाली।

५. फैंटेसी—यह एकांकी का अत्यन्त रोमांटिक रूप है। इसमें कल्पना का मुक्त विहार होना चाहिये; जैसे—'बादल की मृत्यु' (डा० रामकुमार वर्मा)।

६. झाँकी—इसे एकांकी का शुद्ध रूप समझना चाहिये। इसमें केवल एक दृश्य होता है, अतः स्थान और समय के ऐक्य का पूरा-पूरा निर्वाह हो जाता है।

७. रेडियो प्ले।

प्रकार के उपरान्त प्रो० सत्येन्द्र ने विषय के आधार पर, शैली के आधार पर एकाङ्कियों का वर्गीकरण किया है।

विषय के आधार पर निम्नांकित वर्ग किये जा सकते हैं :—

ऐतिहासिक, राजनीतिक, चारित्रिक तथा तथ्य प्रदर्शक।

शैली के आधार पर :—

क—सीधीसाधी शैली,

ख—व्यंग्यात्मक शैली,

ग—हास्यपूर्ण नाटक,

घ—बौद्धिक और कलात्मक,

च—समस्यामूलक एकाङ्की।

प्रो० अमरनाथ का वर्गीकरण तो मुझे बुद्धि का अपव्यय मालूम होता है। उन्होंने १२ नामों की तालिका गिना दी है जिसे सिमटा दें तो तीन या चार प्रकार में उनके सब 'प्रकार' विलीन हो जायँगे। आपने उदाहरण भी सब अंग्रेजी साहित्य से दिये हैं। एक भी उदाहरण हिन्दी का नहीं है—जिसे समझने में उन सब नाटकों का पढ़ना अनिवार्य हो जाता है जिनको उदाहरणस्वरूप प्रो० साहब ने प्रस्तुत किया है। यदि प्रो० साहब के गिनाये हुए नामों की विवेचना की जाय तो सम्भवतः परिणाम यही निकले :—

(१) उनके समस्यामूलक एकांकी के अन्तर्गत, उनका सीरियस एकांकी (नं० ४, नं० ७ तथा नं० १२) आ जायँगे।

(२) प्रहसन के अन्तर्गत नं० ५, नं० ६ तथा नं० १० आ जायँगे।

(३) ऐतिहासिक एकांकी को भी शैली विशेष के द्वारा हम मेलो-ड्रामेटिक एकांकी बना सकते हैं।

(४) Fantasy

इनका नं० ११ तो बिल्कुल बेकार और बेतुका प्रकार है। ग्रामीण

बोलियों में (अवधी, ब्रज, राजस्थानी) लिखे गए एकांकियों की गणना विषय के अनुरूप ही होगी, न कि भाषा अथवा व्याकरण के।

प्रो॰ नगेन्द्र के गिनाये हुए सात प्रकारों में मुझे पहला, पाँचवाँ, छठाँ और सातवाँ प्रकार मान्य है।

सम्वाद के अन्तर्गत मोनोड्रामा को ले सकते हैं—यद्यपि सम्वाद एकांकी नहीं कहला सकते।

रेडियो प्ले के अन्तर्गत फीचर को समेटा जा सकता है। इसी प्रकार प्रो॰ सत्येन्द्र का शैली की दृष्टि से किया गया विभाजन भी कुछ-कुछ हास्यास्पद-सा जान पड़ता है। ये शैली-गत भेद प्रकार-भेद में अपने आप आ जाते हैं, उसके पृथक् वर्गीकरण में कौन सी मौलिकता है!

यदि शैली-गत भेद मान भी लें तो—सीधी-साधी शैली, व्यंग्यात्मक शैली और काव्यात्मक शैली की बात तो समझ में आ जाती है; किन्तु उनकी हास्यपूर्ण शैली, बौद्धिक शैली, दुःखान्त और सुखान्त शैली का तात्पर्य समझ में नहीं आता। दुःख और सुख की भावना तो काव्यात्मक शैली में दिखाई जा सकती है और सीधी-साधी शैली में भी। फिर उनकी गंभीर शैली और हलकी शैली का क्या भाव है?

हलकी को सीधी-साधी शैली कह सकते हैं और गंभीर को बौद्धिक या काव्यात्मक किसी में भी जोड़ सकते हैं।

मेरी राय में एकांकी का वर्गीकरण विषय के अनुरूप होना चाहिये—फिर उस वर्ण्य विषय को अनुकूल शैली के चौखटे में फिट कर सकते हैं। विषय के हिसाब से एकांकी का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है :—

१. सामाजिक, २. राजनीतिक, ३. आर्थिक, ४. धार्मिक, ५. मनोवैज्ञानिक तथा ६. ऐतिहासिक। इन छः मुख्य विषयों के अनेकानेक उपविषय हैं, जिसकी ओर हम पहले संकेत कर चुके हैं। इन विषयों को चाहे

सीधी-साधी शैली में लिखिये, चाहे गंभीर या बौद्धिक (?), चाहे काव्यात्मक या व्यंग्यात्मक शैली में, चाहे हास्यपूर्ण शैली में। विषय के अनुरूप शैली अपने आप प्रवाहित हो पड़ेगी: कलाकार को विशेष बौद्धिक परिश्रम न करना पड़ेगा।

फिर इन विषयों को आदर्शवाद, यथार्थवाद, प्रगतिवाद, मानववाद, अभिव्यंजनावाद या प्रभाववाद किसी भी सड़क पर दौड़ा सकते हैं। यह तो लेखक की व्यक्तिगत रुचि और प्रतिभा पर अवलम्बित है।

एकाङ्की का स्वरूप और उसका भविष्य

आज के इस वैज्ञानिक युग ने इतने लम्बे चौड़े विश्व को बच्चों के गेंद के आकार में बदल दिया है। सौ वर्ष वाली शताब्दी दस वर्ष की परिधि में सिकुड़ गई। महीनों में समाप्त होने वाली दूरी कुछ दिनों और घंटों में ही तय होने लगी। वैज्ञानिक अनुसंधानों के कारण देश की नई-नई भौगोलिक सीमायें बनती और मिटती जा रही हैं। कल की विलासी आवश्यकतायें (Luxuries) आज जीवनोपयोगी वस्तु (Necessities) बन गई हैं। आज का शोषक वर्ग रूपी रावण भी वानर-भालू रूपी जनता के समक्ष घुटने टेक रहा है। रूठी हुई लक्ष्मी को बलात् अशोक वाटिका में बन्दी बनाये रखना चाहता है। फिर भी मरणोन्मुख पूँजीवादी रावण शोषित जनता रूपी अंगद से वाद विवाद करते हुये कहता है :—

महामीचु दासी सदा पॉइ धोवें
प्रतीहार ह्वै कै कृपा सूर जोवें
क्षमानाथ लीन्हें रहै छत्र जाको
करैगो कहा शत्रु सुग्रीव ताको।
सका मेघ माला शिखी पाककारी
करै कोतवाली महादंड धारी
पढ़ै वेद ब्रह्मा सदा द्वार जाको
कहा बापुरो शत्रु सुग्रीव ताको।

यह सुविधायें होते हुये भी रावण समझ गया था कि अब मेरे दिन

समीप हैं। उसी प्रकार आज का बुर्जुआ वर्ग भी अंतिम दिन समीप जानकर भी शोषण की चक्की तेजी से चला रहा है। उसे जल्दी ही परलोक का टिकट देने के लिये एक भीषण क्रान्ति करनी होगी; वह क्रान्ति तीर और तलवार की क्रान्ति न हो कर लेखनी की क्रान्ति होगी। इस क्रान्ति से भारत का बच्चा-बच्चा जग जायगा; फिर वह रोटी को सपने में न देखकर, गेहूँ की फसल चलचित्र के पर्दे पर ही न देखकर प्रत्यक्ष देखेगा। यह लेखनी की क्रान्ति साहित्यिक क्रान्ति होगी। साहित्य के जितने भी अंग हैं कविता, उपन्यास, कहानी, निबंध और नाटक, इन सब में नाटक आज की परिस्थितियों में अधिक उपयोगी होगा। नाटक दृश्य-काव्य होने के कारण लोगों को शीघ्र प्रेरणा देकर उनकी प्रगति का मार्ग प्रशस्त कर सकता है।

आज का मनुष्य प्रातःकाल ६ बजे से ६ बजे शाम तक व्यस्त रहता है, तब कहीं उसे रूखी रोटी मिल जाती है। अतः वह अपने उन रोटी कमाने वाले व्यस्त क्षणों को बड़े-बड़े महाकाव्य, उपन्यास और बड़े-बड़े नाटक देखकर, खो देने का साहस नहीं कर सकता। महाकाव्य और उपन्यास में प्रेरणा मिलती है तो मिले लेकिन उसे अवकाश कहाँ कि प्रेरणा पाने के लिये रोजी कमाना छोड़ दे। वह मनोरंजन चाहता है—जीवन की बोझिल घड़ियों को भूलना चाहता है, पर समय कहाँ? अतः लाचार होकर जन-रुचि कहानी और एकाङ्की की ओर बढ़ रही है। छोटी कहानी और एकाङ्की दोनों उस श्रम-श्लथ मानव की अवसाद से तिमिराच्छन्न कोठरियों में आशा की किरणें फेकते हैं। फिर भी दोनों में एकाङ्की जीवन को रंगमञ्च पर प्रत्यक्ष दिखाकर जो स्फूर्ति और साहस देता है, वह कहानी नहीं दे सकती।

भारत की तीस कोटि की विशाल जनसंख्या लगभग पाँच प्रतिशत शिक्षित और दस प्रतिशत साक्षर है, शेष ८५ प्रतिशत अँगूठे में स्याही लपेटने वाले हैं। किन्तु हमें तो शत प्रतिशत जनता का उद्धार करना

है। स्वयं पापी न होते हुये भी भारत की अधिकांश जनता अहिल्या की भाँति पाषाण बन गई है—इसमें प्राण फूँकने का काम साहित्यिक को ही करना होगा। महलों, उद्यानों और सरिता की गोद में बैठकर लिखने वाला साहित्यिक इन परिस्थितियों में काम देगा। आज के साहित्यिक को राम की भाँति बिना जूते और सवारी के कुश-कंटकाकीर्ण धरती को रौंदते हुये पाषाण को भी मानव बनाना है। यद्यपि जनता को साक्षर बनाना सरकार का काम है—साहित्यिक वर्णमाला उसे नहीं पढ़ावेगा, फिर भी वर्णमाला पढ़ने के लिये उसे जगा सकता है। उसकी सुप्त उदात्त प्रवृत्तियों और मानवीय अधिकारों को उत्तेजित करता हुआ "कोउ नृप होय हमैं का हानी, चेरी छोड़ि न होउब रानी" की माला जपने वाले जो आज अधिक अकर्मण्य-से हो गये है उन्हें कर्तव्य पथ पर मोड़ सकता है। आवश्यकतानुसार आज एकाङ्की को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है :

१—प्रचारात्मक एकाङ्की (जो खास कर किसानों, मजदूरों और निम्न वर्ग के लिये लिखा जाय, जिसके अन्तर्गत देश की ७५ प्रतिशत जनता आती है।)।

२—मध्यवर्गीय एकाङ्की (जिसमें प्रचार और साहित्य दोनों का सम्मिश्रण हो।)।

३—शुद्ध साहित्यिक एकाङ्की।

प्रचारात्मक एकाङ्की का स्वरूप

गाँवो में रासलीला, रामलीला, नौटंकी, भड़ैती, स्वाँग, बिदेशिया नाटक, ननद भौजाई आदि नाटकों का प्रचलन बहुत दिनों से है। साधारण किसान और मजदूर इन्हीं से अपना मनोरंजन करते थे। ये सब खेल होली, दीवाली, दशहरा तथा अन्य किसी शुभ अवसर पर खेलते हैं और अपना नैत्यिक मनोरंजन तो लोक गीतों से ही करते हैं।

लोकगीतों में विरहा, कजरी, कहरवा, चौताल, होली, कबीर, फाग, चैती, निरौनी, बुश्रौनी, जुतौनी, शफेड़ा, पूर्वी इत्यादि हैं। लोक-नृत्य के अन्तर्गत—कहरवा-नृत्य, अहीर-नृत्य, धोबी-नृत्य, चमार-नृत्य आदि आते हैं। नौटंकी, स्वांग और विदेशिया नाटक में लोकगीतों और नृत्यों को भर करके सैकड़ों सफल एकाङ्की लिखे जा सकते हैं। उनके लिये एकाङ्की के विषय अपने होने चाहिये, वे विषय जो उन्हें चारों ओर से घेरे हों—जिनमें वे दिन-रात साँस लेते हों।

किसानों और मजदूरों की समस्यायें

जमींदारों का किसानों पर अत्याचार—जमीन्दार लोग हरी, बेगारी, मोटराही, हथिआही (मोटर और हाथी खरीदने के लिये किसानों से चंदा वसूल किया जाता है) का प्रयोग करते हैं। संतानोत्पत्ति के अवसर पर तथा उसके मुंडन, कर्ण-छेदन, यज्ञोपवीत धारण तथा शादी के अवसरो पर घी, शक्कर, भाजी, लकड़ी इत्यादि देना उनका परम कर्त्तव्य माना गया है। दिन भर काम करा कर शाम को बिना मजदूरी दिये मजदूर को छुट्टी दे देना तो साधारण बात है। इसके अतिरिक्त पटवारी, कारकून, कानूनगो, महाजन, थानेदार, पुलिस, ग्राम पंचायत के पंच तथा सरपंच लोगों का अमानुषिक कार्य है जिसके शिकार किसान, मजदूर और जमींदार सब होते हैं। तत्पश्चात् अछूतों की समस्या आती है—अछूत जमींदार के कुएँ से अपने बर्तन से पानी नहीं निकाल सकता। यद्यपि जमींदार के पशुओं के लिये वह गंदे से गंदे बर्तनों को अपने गंदे से गंदे हाथों द्वारा छू कर कुएँ में डुबो सकता है, पर वह अपना खूब साफ और मँजा हुआ लोटा ठाकुर या ब्राह्मण के कुएँ में नहीं डाल सकता। फिर आती हैं हमारी आध्यात्मिक और धार्मिक प्रवृत्तियाँ जो किसी समय में अपने मूल रूप में अच्छी रही हों, अब तो उनकी बुराइयाँ शेष रह गई हैं। अच्छाइयों को लोग भूल

गये। प्राचीन रूढियों से आज जनसमुदाय इतना चिपका हुआ है कि उन रूढ़ियों के पीछे अपना सब कुछ खोकर भी होश में नहीं आ रहा है—बेहोशी इसलिये है कि उन्हें अब भी रामलीला, रासलीला, पुराणों और वेदों के नाम पर अफीम की घुटी पिलाई जा रही है। जनता का आर्थिक, सामाजिक, आध्यात्मिक, मानसिक, बौद्धिक तथा सांस्कृतिक शोषण हुआ है। उसकी काल्पनिक शक्ति का समूल विनाश करके उसे हतोत्साह किया गया। नियतिवाद की कठोर चहारदीवारी से उसकी प्रगति का मार्ग अवरुद्ध-सा हो गया है। ऐसे आज साधारण किसान और मजदूर जीते हैं क्योंकि मर नहीं पाते। आज भी गाँवों में रेडियो और सिनेमा, उपन्यास और समाचार-पत्र इत्यादि सहज सुलभ नहीं हैं। वे जानते ही नहीं कि शारीरिक भूख की भाँति कोई मानसिक भूख भी होती है जिसका निवारण भी मनुष्य के रूप में करना आवश्यक है। जनता साहित्य और काव्य से अनभिज्ञ अश्लील और कुरुचिपूर्ण मनोरंजन को ही अपना साध्य समझ बैठी थी। किन्तु आज संसार करवट ले रहा है, साधारण जनता की भी खुमारी मिट रही है, पर उसे पूर्ण चैतन्य करके जीवन संघर्ष में निरत करने का काम साहित्यकारों का है। लीडरों के भाषण, सभायें तथा हड़ताल उसे इतना बल नहीं दे सकते, जितना कि मंच पर देखा गया नाटक। इसी एकाङ्की के माध्यम से प्राचीन जर्जरित रूढ़ियों, अन्धविश्वासों, जमींदारों एवं महाजनों के कुरुचिपूर्ण व्यवहारों तथा अत्याचारों के प्रति उसे जागरूक किया जा सकता है।

नौटंकी या विदेशिया नाटक की भाँति दो-चार तख्तों को जोड़ कर एक रंगमंच बनाया जा सकता है जिस पर आकर अभिनेता और अभिनेत्रियाँ अपना काम कर सकती हैं। रंगमंच के सामने दर्शकगण बैठ सकते हैं। नाटक के सहारे योरोप, अमेरिका, रूस और चीन में काफी प्रचार किया जाता है। नाटकों के सजीव पात्रों के माध्यम से साधारण जनता को प्रभावित किया जा सकता है। और नाटक का उद्देश्य कार्यान्वित

करने के लिए अभिनय आवश्यक है। इसका दोहरा फल होता है: जनता का मनोरंजन और साथ ही साथ उसे उपर्युक्त शोषणों से मुक्त करना।

नाटकों की शैली सर्व साधारण के लिये बोधगम्य बनाने के लिये जहाँ तक सम्भव हो, ग्रामीण बोली में नाटक लिखे जायँ। हाँ—आजकल जहाँ विदेशिया नाटक और नौटंकी में गीतों की प्रधानता रहती है, वहाँ इन ग्रामीण एकाङ्की नाटको में आधुनिक नाटकों की भाँति गद्य की प्रधानता होनी चाहिये। दो-चार लोकगीत और लोक नृत्य जोड़ देने से नाटक और प्रभावशाली बन सकता है। किन्तु एकाङ्की में स्थल संकोच, समय संकोच के कारण दो-एक गीत और दो-एक नृत्य से अधिक की गुंजाइश नहीं है। गीत और नृत्य अवसर के अनुकूल तथा विषय-वस्तु से मेल खाने वाले होने चाहिये। निम्नलिखित गीत एक वियोगिनी मजदूरनी गाती है। इस गीत में विप्रलम्भ शृङ्गार के साथ साथ आर्थिक वैषम्य पर भी आघात किया गया है :

रेलिया न बैरी सड़किया न बैरी उहै पइसवा बैरी ना
देसवा देसवा ऊ भरमावै उहै पइसवा बैरी ना।

पति परदेश गया है; उसकी पत्नी वियोग में गाती है : "न वह रेलगाड़ी हमारी दुश्मन है, न सड़क जिस पर से होकर प्रियतम परदेश चले गये। हमारे प्रियतम को मुझसे वियुक्त कराने वाला और उन्हें देश-देश भ्रमण कराने वाला वही पैसा हमारा दुश्मन है।" (यदि पैसा मेरे पास होता तो वे क्यों हमें छोड़कर परदेश जाते ?)

किन्तु जनता इस गीत को उस रूप में नहीं समझती जिस प्रगति और क्रांति की ओर यह गीत वास्तव में संकेत करता है—साधारण किसान-मजदूर इस गीत को गीत ही समझ कर सुन लेते हैं। यदि गाने वाली का स्वर ठीक है तो समय कट जाता है नहीं तो समय के अपव्यय और नींद की खराबी के डर से घर आकर सो जाते है।

इस गीत के द्वारा जनता के भावों और उसकी सुप्त क्रियात्मक शक्तियों को तभी उभाड़ा जा सकता है जब नाटक का विषय आर्थिक वैषम्य पर हो और अवसर के अनुकूल यह गीत गाया जाय।

एक दूसरे गीत का नमूना लीजिये :—

कइसे के लेबो नजरिया बलम अब टूटन लगी जमींदरिया
कइसे छवइबो महला दुमहला कहँवा घुमइबो मोटरकरिया
बलम अब टूटन लगी जमींदरिया

एक जमींदार की पत्नी अपने पति से खिन्न होकर पूछती है कि हे प्रियतम, अब जमींदारी टूट रही है, कैसे असामियों से नजर भेंट लोगे? कैसे महला दोमहला बँगला बनवाओगे और अपनी कार कैसे, किस भरोसे चलाओगे?

इसी प्रकार के अन्य प्रगतिशील गीतों का समावेश एकाङ्की नाटकों में किया जा सकता है जो जन साधारण की बुद्धि की पकड़ में आ सकें। इन गीतों से रुचिपरिष्कार होगा, जिससे अश्लील गीतों की ओर उसका झुकाव कम हो जायगा। और धीरे-धीरे उस निम्न धरातल से उठाकर उसे साक्षर जनता की कोटि में पहुँचा देना है।

यद्यपि ये नाटक स्टालिनग्राड के मोर्चे पर लिखे गये नाटकों की भाँति अत्यन्त सामाजिक होने के कारण क्षणिक और अस्थायी होंगे, पर आज अस्थायी साहित्य की भी आवश्यकता है—इन तथा कथित अस्थायी साहित्य के अभाव में भारत की अधिकांश जनता मृतप्राय हो जायगी, फिर मुट्ठी भर पढ़े-लिखे लोग किस पर गर्व करेंगे? कबीर, नानक, तुलसी, सूर, मीरा इत्यादि तक ही जनता अभी तक पहुँच पाई है, उसे बदलती हुई दुनिया के साथ कदम ब कदम चलाने के लिये उसकी प्रतिभा का सर्वतोमुखी विकास आज आवश्यक हो गया है। वह विकास एकाङ्की नाटकों द्वारा ही सम्भव है।

इंग्लैंड में इब्सन और बर्नार्ड शॉ ने अपने नाटकों द्वारा पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के तार-तार बिखरा दिये और "वहाँ के प्रगतिशील लेखकों ने 'लेफ्ट थियेटर' की नींव डाली। बाद में संयुक्त मोर्चे के दिनों में उसका नाम 'युनिटी थियेटर' कर दिया गया। इस थियेटर में जो नाटक खेले गये उनमें ट्रिटिया शवका, रोडर चाइना, गोर्की का 'मदर', स्टीफन स्पेन्डर का दी ट्रायल ऑव ए जज, क्लिफर्ड आडेट का वेटिंग फार लेफ्टी आदि अनूदित तथा मौलिक नाटक प्रसिद्ध हैं।"* इन नाटकों से जनता में एक भयानक उथल-पुथल और जागृति हुई। प्रत्येक मनुष्य को अपने 'स्व' का अभिमान हुआ।

चीन में भी जापान विरोधी भावना के प्रचारार्थ तथा जन जागृति को लक्ष्य करके Jen-Min-K ans-Erh-Chii-She अर्थात् जनता की जापान विरोधी नाटक समिति बनी। वहाँ के आक्रमण, मचूरिया विजय, १८ सितम्बर से, स्ट्रगिल अगेन्स्ट काउन्टर स्ट्रगिल (Li Chih-hua) इत्यादि नाटकों द्वारा जनता को स्वतन्त्रता प्राप्ति के लक्ष्य की ओर उन्मुख किया गया और उसको प्राचीन रूढ़ियों, राजाओं और जमींदारों के नखड़ों के भयानक प्रहार से मुक्त किया गया।

भारत भी आज उन्हीं परिस्थितियों से गुजर रहा है जिनमें होकर रूस और आधुनिक चीन अपनी मंजिल तय कर चुके हैं। फिर सामयिक साहित्य की रचना से यदि हम अपनी प्रगति के मार्ग में फूल बिछाने में समर्थ हो सकें तो हमें चाहिये कि शाश्वत साहित्य का मोह क्षण भर के लिये छोड़ दें। शाश्वत साहित्य शान्ति के समय की चीज है, परिस्थितियों और अभावों के वात्याचक्र में पड़कर मेरी समझ में शाश्वत साहित्य का सृजन असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। घर पर लोग चार छः प्रकार को भाजी, शुद्ध घी, दूध, अचार, चटनी और पूड़ी पर हाथ साफ

---

* पृ० १२५, प्रगतिवाद—शिवदान सिंह चौहान

करते हैं, किन्तु कभी-कभी यात्रा में सत्तू और नमक ही पूड़ी बन जाया करता है। उसी प्रकार सामयिक साहित्य वह सत्तू है जो पूड़ी और मलाई जैसे शाश्वत साहित्य का रसास्वादन करने के लिये मानव को जीवित रखता है। 'जान है तो जहान है' के अनुसार यदि जीवन है तो शाश्वत साहित्य भी रचा जा सकता है। रूस और चीन में आज यही हो रहा है। आज वहाँ के कवि, लेखक और साहित्यिक सामयिक साहित्य को छोड़ फिर शाश्वत साहित्य की ओर मुड़ रहे हैं।

दूसरे वर्ग में किसानो व मजदूरों की वह संख्या सम्मिलित है, जिनका बौद्धिक स्तर निरक्षर और अपढ़ जनता से साधारणतः ऊँचा है। अतः उनकी रुचि भी प्रथम वर्ग की जनता से अधिक परिष्कृत तथा दूसरे प्रकार की होती है। इसके अन्तर्गत दूकानदार, साधारण पढ़ लिखे किसान-मजदूर और निम्न-मध्य वर्ग के लोग आते है। इनके निमित्त लिखे गये नाटकों का विषय राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक हो सकता है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि उपर्युक्त प्रथम वर्ग के विषय इनके प्रतिकूल पड़ेंगे। इनके समक्ष मामूली राजनीतिक समस्याओं (पार्टी-बंदी, गुटबंदी, साम्प्रदायिकता और प्रान्तीयता का मोह) तथा वर्तमान शासकों और अधिकारियों की स्वार्थपरता पर छोटे-छोटे व्यंग्यात्मक प्रहसन लिख कर लोगों को सजग करना चाहिये। यहाँ पर दूसरे वर्ग का क्षेत्र प्रथम वर्ग से अधिक विस्तृत और व्यापक है। ऐसे नाटकों में वास्तविकता के साथ साथ कलात्मक आदर्शवाद का भी पुट होना चाहिये। कोरी प्रचार भावना ही न हो, कुछ स्थायी तत्व भी हों जो उन समस्याओं के सुलझ जाने पर भी जीवित रहें।

इस वर्ग के लिये लिखे हुये नाटकों की भाषा ग्रामीण न हो बल्कि सरल खड़ी बोली में हो, हाँ, कहीं ग्रामीण मुहावरों और कहावतों का भी प्रयोग किया जा सकता है। अवधी में लिखा गया एकाङ्की सम्भवतः ब्रज भाषा के समझने और बोलने वाली जनता के लिये कठिन पड़े, अतः सब को

एकता के सूत्र में बाँधने के लिये एक ही प्रेक्षागृह में समान आनन्द लेने के लिये साधारण खड़ी बोली का प्रयोग अपेक्षित है।

ऐसे नाटकों में प्राचीन और नवीन का द्वन्द्व नाटक में प्राण डाल देगा जो अवसर और समय के अनुकूल होगा। यह द्वन्द्व होगा प्रतिक्रियावादी और प्रगतिशील शक्तियों में।

तीसरे वर्ग के निमित्त लिखे गये नाटक पूर्ण रूप से साहित्यिक होने चाहिये। इनका रसास्वादन करने वाले वकील, विद्यार्थी, डाक्टर, अध्यापक, प्राध्यापक तथा कवि, लेखक और पत्रकार लोग होंगे। समस्यायें राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, ऐतिहासिक, धार्मिक तथा मनोवैज्ञानिक हो सकती हैं। इन समस्याओं के अन्तर्गत प्रगतिवाद का 'अभाव' भी होगा और छायावाद का 'भाव' भी, बुद्धि भी होगी और हृदय भी, इसमें अध्यात्मवाद के सूक्ष्म और विज्ञानवाद के स्थूल का समन्वय होगा। जीवन के चिरन्तन प्रश्न: राग-द्वेष, सुख-दुःख, जीवन-मरण, यश-अपयश इत्यादि द्वन्द्वात्मक तत्वों का निरूपण होगा। सामयिक समस्याओं से ऊपर उठना होगा, रोटी, दाल और सेक्स के त्रिभुज से आगे भी सोचना होगा। श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी के शब्दों में 'आज के आर्थिक युग का प्राणी भीतर पशु है, बाहर मनुष्य।' हमें इन नाटकीय समस्याओं के सहारे मनुष्य को बाहर-भीतर दोनों ओर से मनुष्य बनाना है। रोटी-दाल की नगण्य समस्याओं के हल होने के बाद नाटककार को आत्म-दर्शन की ओर मुड़ना होगा। मानव के बाहर ही नहीं, भीतर भी झाँकना पड़ेगा। बिना आत्मा के परिष्कार के बाह्याडम्बर खोखले और क्षणिक होंगे। जीवन बढ़ता है, प्रगति करता है किन्तु उस प्रगति में भी एक मन्थरता, एक स्थिरता और एक निश्चयात्मकता चाहिये; लक्ष्यहीन दौड़ लगाने वाले मानव की पराजय निश्चित है। "जीवन की प्रगतिशीलता ही नहीं, कुछ गति-धीरता भी चाहिये; यही संस्कृति का तकाजा है।"*

---

* शान्तिप्रिय द्विवेदी—सामयिकी

इस कोटि के नाटकों की शैली भी उपर्युक्त दोनों शैलियों से भिन्न होगी। भाषा विषय के अनुरूप ही गंभीर और प्राञ्जल होगी।

यह आवश्यक नहीं कि इन नाटकों को रंगमंच पर दिखलाया ही जाय। इनका रंगमंच पाठकों के मस्तिष्क में ही निहित होगा। पाठक नाटकों को श्रव्य काव्य की भाँति पढ़ता जायगा और रंगमंच की कल्पना अपने मस्तिष्क में ही करता जायगा। वह अपनी सजग कल्पना और प्रखर बुद्धि के सहारे उस नाटक को अपने भीतर ही देख लेगा। उच्च कोटि के साहित्यिक नाटकों के लिये रंगमंच और अभिनय की अनिवार्यता बहुत महँगी पड़ेगी—परिणामस्वरूप मस्तिष्क को खूराक देने वाली भाषा, भाव, रस और जटिल समस्याओं से सराबोर नाटक न बन सकेंगे। उनके बदले चवन्नी वाले नाटकों का ही निर्माण होगा, जो छिछली बुद्धि और अपरिष्कृत दिमाग वालों का मनोरंजन भले ही कर सकें, उन्हें जगत के नाना रूपात्मक समस्याओं से अवगत कराने में असमर्थ होंगे।

इन नाटकों में व्यक्ति का अनादर न होगा। व्यक्ति को निर्बल, नपुंसक और समाज का कठपुतला बना देने से समाज भी, जो व्यक्तियों का ही समूह मात्र है, जड़ीभूत हो अप्रगतिशील बन जायगा, अतः व्यक्ति का महत्व तब तक रहेगा जब तक समाज है। "स्वगत-क्षणों से ही भाव-जगत की सृष्टि होती है। व्यक्ति की उपयोगिता समूह के लिये है, भाव की उपयोगिता व्यक्ति के लिये।" इसलिये व्यक्ति और समाज दोनों का समन्वय समाज के लिये हितकर होगा। व्यक्ति के स्वतन्त्र व्यक्तित्व को आत्मसात करने वाला समाज कभी भी ऊपर नहीं उठ सकता। पंत जी कहते हैं कि—इसमें संदेह नहीं कि मनुष्य का सामूहिक व्यक्तित्व उसके वैयक्तिक जीवन के सत्य की संपूर्ण अंशों में पूर्ति नहीं करता, उसके व्यक्तिगत सुख, दुख, नैराश्य, विछोह आदि की भावनायें तथा उसके स्वभाव और रुचि-वैचित्र्य, उसकी गुण विशेषता, प्रतिभा आदि का किसी भी सामाजिक जीवन के भीतर अपना पृथक् और विशिष्ट

स्थान रहेगा; किन्तु इसमें भी संदेह नहीं कि एक विकसित सामाजिक प्रथा का परस्पर के सौहार्द और सद्भावना की वृद्धि के कारण, व्यक्ति के निजी सुख-दुःखों पर भी अनुकूल प्रभाव पड़ सकता है और उसकी प्रतिभा एवं विशिष्टता के विकास के लिये उसमें कहीं अधिक सुविधायें मिल सकती हैं। अतः व्यक्ति और समाज के ऐक्य से निर्मित 'कामना' और 'एक घूँट' जैसे नाटकों की भी आवश्यकता समाज को पड़ेगी, जिनका संपूर्ण आनन्द शिक्षित समाज ही ले सकेगा।

जगत की परिवर्तनशीलता में संपूर्ण आस्था रखते हुए भी मुझे यह विश्वास है कि संसार में तीनों वर्ग किसी न किसी रूप में विद्यमान रहेंगे। हाँ—सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक सुधारों से परसेन्टेज चाहे बदल जाय; अर्थात् शिक्षित अधिक हो अशिक्षित कम, धनी अधिक हो गरीब कम। फिर भी धनी और गरीब सब का मन एक-सा होते हुये भी उनकी रुचि वैचित्र्य वाली विशेषता तो सदैव जीवित रहेगी।

कुछ भी हो, एकाङ्की नाटकों का भविष्य बहुत ही उज्ज्वल है। वर्तमान कलियुग ने समय की कीमत बढ़ा दी है। उस समय का आदर करते हुये एकाङ्की का आदर होगा, जो व्यक्ति, समाज और देश को प्रगति की राह पर खड़ा कर के मानव की सांस्कृतिक, आध्यात्मिक और आर्थिक उन्नति में सहयोग देगा।

परिशिष्ट

संस्कृत साहित्य में एकांकी

यह निर्भ्रांत रूप से कहा जा सकता है कि भारतवर्ष में नाटकों का प्रचलन यूनान, इंगलैन्ड, फ्रांस, चीन, जापान तथा रूस इत्यादि देशों से बहुत पहले हो चुका था। आज पश्चिम के एकांकी और उसके टेकनीक को देख अंग्रेजी चश्मा लगाने वाले कुछ नवीन आलोचकों की निगाहों में चकाचौंध-सी मच जाती है। उसी नेत्र-विकार और पर्यवेक्षण शक्ति के अभाव में भारत में एकांकी की प्राचीनता मानने में आनाकानी करते हैं। कुछ भी हो, संस्कृत साहित्य में एकांकी थे—हाँ उन पर समय और परिस्थितियों के दबाव से पश्चिमी विद्वानों ने मुलम्मा करके नवीन रूप दिया। एकांकी के इस नवीन रूप के लिये हम उनके ऋणी अवश्य हैं।

संस्कृत के साहित्याचार्यों ने नाटक को रूपक और उपरूपक दो भागों में विभक्त किया था। फिर रूपक के दस भेद :—

१. नाटक २. प्रकरण ३. भाण ४. व्यायोग ५. समवकार ६. वीथी ७. प्रहसन ८. ईहामृग ९. डिम १०. अङ्क

तथा उपरूपक के १८ भेद किए गए—

१. नाटिका २. भोटक ३. गोष्ठी ४. संलापक ५. प्रकरणी ६. श्रीगदित ७. प्रस्थान ८. सट्टक ९. उल्लाप्य १०. दुर्मालिका ११. विलासिका १२. भाणि १३. शसक १४. पेङ्खण १५. काव्य १६. शिल्पक १७. हल्लीस १८. नाट्य शसक।

इस प्रकार रूपक और उपरूपक के २८ भेदों में १५ भेद एकांकी के हैं।

१. भाण—इसमें अंक भी एक होता है और पात्र भी एक। इसका मुख्य उद्देश्य परिहासपूर्ण धूर्तता का प्रदर्शन करना है। कथानक कवि-कल्पित होता है। इसका नायक रंगमंच पर आकाश की ओर देख कर इस ढंग से बात करता है मानों उसकी बातों को सुनने और उत्तर देने वाला कोई व्यक्ति ऊपर विराजमान है। पात्र एक होने से नायक की अभिनय-पटुता और बुद्धिमत्ता पर इसकी सफलता निर्भर होती है। साधारणतः यह शृङ्गार या वीर रस प्रधान होता है।

२. व्यायोग—इसमें एक अंक होता है। पुरुष-पात्रों की बहुलता होते हुये भी एक भी स्त्री पात्र का समावेश व्यायोग में नहीं किया जाता। इसका नायक धीरोद्धत, राजर्षि अथवा दिव्य व्यक्ति होता है। कथानक या तो ऐतिहासिक होता है या पौराणिक। युद्ध की प्रबलता से बोझिल घटनाओं के कारण इसमें शृङ्गार, हास्य और शांत के अतिरिक्त कोई भी रस प्रधान हो सकता है।

३. वीथी—अंक एक। पात्रों की संख्या एक से तीन तक हो सकती है। नायक उत्तम, मध्यम या अधम श्रेणी का हो सकता है। शृङ्गार की प्रधानता के साथ-साथ अन्य रस भी आ सकते हैं। कथोपकथन का ढंग भाण की भाँति आकाश भाषित होता है।

४. अंक—अंक एक। साधारण या चरित्रहीन पुरुष इसका नायक होता है। कथानक युद्ध सम्बन्धी और ऐतिहासिक होना चाहिये। रंगमंच पर वाणी-युद्ध से जय और पराजय का निर्णय हो जाता है। स्त्रियों के करुण विलाप के आधिक्य के कारण इसमें करुण रस की प्रधानता रहती है।

५. गोष्ठी—अंक एक। पात्रों की संख्या १५ या १६ तक हो जाती

है, जिसमें ६-१० पुरुष और ५-६ स्त्रियाँ होती हैं। इसमें काम-शृङ्गार की प्रधानता रहती है। पात्र साधारण कोटि के होते हैं।

६. शसक—अंक एक। पात्रों की संख्या पाँच होती है। पात्रों में नायक के मूर्ख होने के कारण नायिका को ही प्रसिद्धि मिलती है।

७. काव्य—अंक एक। नायक-नायिका दोनों उदात्त होते हैं। गीत और हास्य की प्रधानता होती है।

८. उल्लाप्य—अंक एक। पात्र पाँच—जिनमें नायक धीरोदात्त तथा उसकी चार नायिकायें होती हैं। शृङ्गार, करुण तथा हास्य रस प्रधान और कथानक अलौकिक हो।

९. नाट्य शसक—अंक एक। उदात्त नायक, पीठमर्द उपनायक और नायिका वासकसज्जा (जिसका पति घर आने वाला हो)। हास्य रस प्रधान होते हुये शृङ्गार रस का भी इसमें समावेश होता है।

१०. प्रेंखण—अंक एक। इसका नायक चरित्रहीन होता है। यह सूत्रधार, प्रवेशक और विष्कंभक से रहित होता है।

११. श्रीगदित—अंक एक। धीरोदात्त नायक, प्रख्यात नायिका तथा लोक प्रसिद्ध कथा होती है।

१२. भाणिका—अंक एक। इसके नायक उदात्त और मंद दोनों प्रकार के हो सकते हैं। किन्तु नायिका चतुर होना आवश्यक है। यह भाण से मिलता-जुलता है।

१३. हल्लीश—अंक एक। नायक उदात्त। स्त्रियों की संख्या ७ से १० तक होती है पर संगीत-प्रधान होता है।

१४. विलासिका—अंक एक। चरित्रहीन नायक पर वेश-भूषा से सुसज्जित हो। कथा छोटी और हास्य रस प्रधान हो।

१५. प्रहसन—में कभी-कभी एक ही अंक रखा जाता है। इसका

नायक निम्नचरित्र का धूर्त व्यक्ति होता है। यह हास्य रस प्रधान होता है। आचार्यों ने इसे तीन भागों में विभक्त किया है : १. शुद्ध २. विकृत ३. संकर। शुद्ध में पाखंडी, सन्यासी अथवा धर्माधिकारी नायक होता है। विकृत में नपुंसक, कंचुकी तथा भ्रष्ट तपस्वियों का कामुक रूप से प्रदर्शन होता है। संकर में उपर्युक्त दोनों के सम्मिश्रण के साथ-साथ हँसी-मज़ाक का आधिक्य रहता है।

* प्राचीन संस्कृत साहित्य में एकांकी यथेष्ट संख्या में मिलते हैं। कुछ प्रसिद्ध एकांकी निम्नलिखित हैं :

सौगंधिका हरण—(व्यायोग)
शर्मिष्ठा ययाति—(अंक)
रैवत मदनिका—(गोष्ठी)
विलासवती—(नाट्य शसक)
देवी महादेव—(उल्लाप्य)
मनिकाहित—(शसक)
बालिवध—(पेंखण)
क्रीड़ा रसातल—(श्रीगदित)
विन्दुमती—(विलासिका)
केलि रैवतक—(हल्लीस)
कामदत्ता—(भाणिका)

अब प्रश्न यह उठता है कि हमारे प्राचीन संस्कृत साहित्य में एकांकी पर्याप्त मात्रा में थे, फिर भी उनका रूप आधुनिक एकांकी की तरह विकसित क्यों नहीं हुआ? प्राचीन समय में भारतवासियों का जीवन इतना व्यस्त नहीं था कि उसे बात करने की भी फुरसत न हो। उस समय जीवन की आवश्यकतायें थोड़ी थीं और वे आवश्यकतायें बड़ी सुलभता

* देखिये भूमिका 'सप्तरश्मि'—सेठ गोविन्ददास

से प्राप्त की जा सकती थीं—उनके लिये विशेष उछल-कूद नहीं करनी पड़ती थी। तात्पर्य यह कि उस समय समय की न तो इतनी कीमत थी, न कमी। इसलिये जो भी काम किया जाता था धीरे-धीरे मंथर गति से—एक साँस में नहीं साँस ले-ले कर। परिणाम यह हुआ कि एकांकी का बीज होते हुये भी वह प्राचीन भारतीय भूमि में पनप नहीं सका। यदि सम्भवतः जीवन में किसी वस्तु का अभाव भी खटकता था तो भारतीय अपने संयम और संताप से उस अभाव की भौतिकता को नष्ट करके प्रवृत्ति से विमुख हो जाते थे।

इस तरह उनके जीवन में समय का अभाव कभी कोई अभाव लेकर नहीं आया।

दूसरा कारण यह है कि भारतवर्ष युगों से अध्यात्मवादी रहा है। प्राचीन समय में भारतीय कला और साहित्य का प्रधान उद्देश्य ईश्वरीय सत्ता का गुण गान करना था—ऐसा करने से हमारे साहित्य ने अन्याय की पराजय और न्याय की विजय दिखाकर लोगों को आस्तिक बनाने में बहुत कुछ योग दिया। फिर विद्या की देवी सरस्वती की उपासना के लिये वे अधिक से अधिक समय देना चाहते थे, इसलिये बड़े-बड़े नाटक तो लिखे गये किन्तु एकांकी नाटकों का प्रचलन उतनी मात्रा में न हो सका। एकांकी लिखकर आध घंटे में ही सरस्वती की उपासना का ढोंग उन्हें अरुचिकर लगा। अतः यह कहा जा सकता है कि हमारी आध्यात्मिक वृत्ति ने भी एकांकी को पनपने नहीं दिया।

पहले नाटक के माध्यम से देवोपासना की जाती थी, बाद में नाटक सामंतकालीन युग में राजाओं और महाराजाओं के दिल-बहलाव की सामग्री रह गये। इन नाटकों को देखकर अपने अवकाश के क्षणों (जिनके जीवन में अवकाश ही अवकाश था) में अपना मनोरंजन करते थे। राजाओं, महाराजाओं का मनोरंजन आधे या पौन घंटे

के एकांकी से पर्याप्त नहीं होता था, इसलिये बड़े-बड़े नाटकों के सामने एकांकी को बढ़ने के लिये परिस्थिति अनुकूल न थी।

नाटक हमारे यहाँ पंचम वेद माना गया है। और वेद का पठन-पाठन जितनी ही देर तक हो उतना ही धार्मिक दृष्टिकोण से अच्छा है।

उपर्युक्त कारणों से प्राचीन काल में एकांकी का विकास नहीं हुआ। पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क में आकर जीवन में पल-पल की कीमत होने लगी। इसलिये समय की बचत के लिये हिन्दी में भी एकांकी की बाढ़-सी आने लग गई है।

हिंदी में एकाङ्की

हिन्दी में एकांकी की परम्परा भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से चल पड़ी, यद्यपि श्री नगेन्द्र का मत है कि हिन्दी एकाङ्की का प्रारंभ 'प्रसाद' के "एक घूँट" से ही हुआ है। 'प्रसाद' पर संस्कृत का प्रभाव है, इसलिये वे हिंदी एकाङ्की के जन्मदाता नहीं कहे जा सकते, यह बात मान्य नहीं। एकाकी के टेकनीक का 'एक घूँट' में पूरा निर्वाह है—उतना ही जितना कमलाकात के 'उस पार' में—हाँ, उसमें प्रसादत्व का गहरा रंग अवश्य है। श्री नगेन्द्र के कथनानुसार 'प्रसाद' के 'एक घूँट' में एकांकी का टेकनीक है--इसे मैं मानता हूँ परन्तु बाबू हरिश्चन्द्र लिखित 'विषस्य विषमौषधम्', 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', भारत दुर्दशा, नील देवी, प्रेम-योगिनी, भारत जननी तथा सती प्रताप में भी एकाङ्की के तत्व मौजूद हैं। इसलिये मेरी समझ से हिन्दी में एकाङ्की का उद्‌गम 'प्रसाद' को न मान कर बाबू हरिश्चन्द्र को ही मानना चाहिये। हाँ—यह दूसरी बात है कि आधुनिक पश्चिमी एकाङ्की के टेकनीक की तुला पर न तो 'प्रसाद' का 'एक घूँट' ही खरा उतरेगा और न बाबू हरिश्चन्द्र के ही उपर्युक्त एकाङ्की।

भारतेन्दु जी पर बहुधा यह आरोप लगाया जाता है कि उन्होंने संस्कृत शैली का अनुकरण किया है किन्तु यह आक्षेप पूर्णतया निराधार है। भारतेन्दु जी ने पराधीन भारत का दुःख दर्द, उसकी आशा निराशा तथा अतीत के गौरव का ही चित्र अपने नाटकों में खींचा है। प्रो० सत्येन्द्र के शब्दों में "इनके समस्त नाटकों पर दुःख की छाया लम्बी होकर जा पड़ी है।"

भारतेन्दु जी के एकाङ्की नाटकों का सूक्ष्म परिचय :—

१. विषस्य विषमौषधम् में मल्हारराव गायकवाड़ ने अपनी प्रजा पर जो अत्याचार किया था उसका वर्णन है—इसके कथोपकथन आकाश-भाषित ढंग के हैं।

२. वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति—में एक कल्पित कथा का वर्णन है। इसमें हिन्दू समाज के कर्म-काड तथा पाखंडों का भंडाफोड़ किया गया है।

३. भारत दुर्दशा—में अतीत और वर्तमान भारत की तुलनात्मक समीक्षा की गई है। अतीत काल में भारत धनधान्य से पूर्ण था और वर्तमान भारत दुःख दर्द से परिपूर्ण है। आज के भारतीय भाग्यवादी बनकर दुःख भोग रहे हैं।

४. नीलदेवी—इसमें कुछ ऐतिहासिकता का पुट दिया गया है। प्राचीन भारतीय क्षत्रिय रमणियों के साहस और वीरतापूर्ण चरित्र की झाँकी दिखाई है। नीलदेवी स्वयं मर्दाने वेश में पति के हत्यारे को मार कर सती होती है।

५. प्रेम-योगिनी—में तत्कालीन परिस्थितियों को समक्ष रख कर काशी का सुन्दर वर्णन किया है।

इस युग के अन्य नाटककार तथा उनकी रचनायें निम्नलिखित हैं :-

काशीनाथ खत्री—उनके तीन ऐतिहासिक एकाङ्की हैं :—सिंध देश की राजकुमारियाँ, गन्नौर की रानी और लव जी का स्वप्न।

राधाचरण गोस्वामी—के श्रीदामा, सती चन्द्रावती, अमरसिंह राठौर, तन मन धन श्री गोसाई जी के अर्पण प्रसिद्ध एकाङ्की हैं।

इसी तरह श्रीनिवास दास के प्रह्लाद चरित और प्रेमघन लिखित प्रयाग राम वन गमन की गणना उस युग के एकांकियों में की जा सकती है।

इन एकांकियों के विषय समाज सुधार, अतीत के गौरव गान, धार्मिक कुरीतियाँ, अंधविश्वास, बाल-विवाह, वृद्ध विवाह इत्यादि रहे हैं। यद्यपि इनमें एकांकियों के संकलन त्रय के नियम का पालन बहुत कुछ अंशों तक खूब हुआ है, किन्तु कला का सर्वथा अभाव है। इन नाटककारों ने बुराइयों की ओर संकेत तो अवश्य किया, किन्तु समाधान नहीं।

एकाङ्की का दूसरा युग 'प्रसाद' के "एक घूँट" से प्रारम्भ होकर सन् १९३७ तक मानना चाहिए। "एक घूँट" सम्वत् १९८६ में प्रकाशित हुआ। इसके विषय में प्रो० अमरनाथ गुप्त का मत उल्लेखनीय है। इसका कथानक ऐतिहासिक है। (किन्तु मुझे इस कथन में तनिक भी सचाई नजर नहीं आती।) जीवन की विनोद-पूर्ण और काव्यमय झाँकी हमें यहाँ मिलती है। प्रसाद जी के एकांकी संस्कृत की परिपाटी से ही अधिक प्रभावित रहे। प्रसाद जी पथ प्रदर्शक के रूप में हिन्दी भाषा भाषियों के सम्मुख उपस्थित न हो सके। हिन्दी साहित्य के पश्चिम के-से एकांकियों के जन्मदाता 'प्रसाद' नहीं हैं।

इस काल में हमें तीन प्रकार के एकांकीकार मिलते हैं।* एक वे जिन्होंने 'प्रसाद' की तरह अपनी कल्पना के छोटे कथानक को कुछ अपनी प्रेरणा से, कुछ बँगला के प्रभाव से, एक छोटे कथानक का रूप दे दिया। इन्हीं के अन्तर्गत स्व० श्री सूर्यकरण पारीक, सुदर्शन, जैनेन्द्र कुमार,

---

* हिन्दी एकांकी (पृ० ३२)—प्रो० सत्येन्द्र

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार तथा गोविन्दवल्लभ पन्त को ले सकते हैं, जिन्हें एकांकी के स्वतन्त्र टेकनीक का कोई विशेष ज्ञान न था।

दूसरी श्रेणी में श्री भुवनेश्वर प्रसाद जी का नाम लिया जा सकता है। इन्होंने पश्चिमी एकांकी के टेकनीक को लिया तथा विषय-वस्तु पर भी पश्चिमी सभ्यता और तर्क का मुलम्मा चढ़ाया। उनका प्रसिद्ध संकलन 'कारवाँ' है। तीसरे वे जिन्होंने एकाकी के टेकनीक को तो पूरी तरह समझा, किन्तु उसे साधन ही माना साध्य नहीं। इस वर्ग में डा० रामकुमार वर्मा जी आते हैं।

हिन्दी एकाकी का तीसरा युग १९३८ ई० से माना जा सकता है। १९३८ ई० में 'हँस' के एकाङ्की-अंक में एकाङ्की पर विद्वानों ने अपने-अपने मत दिये। कुछ ने एकांकी के टेकनीक को हवा में उड़ा दिया, कुछ ने उसे कहानी का छोटा भाई कहा, कुछ ने एकांकी के अस्तित्व को स्वीकार करते हुये उसके उज्ज्वल भविष्य की भविष्यवाणी की। श्री चंद्रगुप्त विद्यालंकार ने एकाङ्की के विषय में अपना जो मत दिया, उसे समय तथा एकांकीकारों ने किस प्रकार झूठा साबित कर दिया—वह आज प्रत्यक्ष है। श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार का मत देखिये :—

"लाहौर में विज्ञापन बाजी का अनोखा ढङ्ग मैं बहुत दिनों से देख रहा हूँ। सम्भव है कि वह ढङ्ग और भी बहुत जगह बरता जाता हो, फिर भी मैं उसे 'अनोखा' इसलिये कह रहा हूँ कि दो विशेष व्यक्तियों ने यहाँ उसे बहुत आकर्षक बना रखा है। कोई दो व्यक्ति हैं, एक बड़ी उम्र का लम्बा-चौड़ा पुरुष और दूसरा एक बालक। सम्भव है वे परस्पर सचमुच चचा-भतीजे हों, क्योंकि अपना परिचय वे इसी प्रकार देते हैं। जिस बेतकल्लुफी का व्यवहार वे एक दूसरे से करते हैं, उसे देखकर यह कहा जा सकता है कि वे पिता-पुत्र हो ही नहीं सकते। और यह भी सम्भव है कि उनमें परस्पर केवल व्यावसायिक सम्बन्ध ही हो। अनारकली बाजार में आप उन्हें प्रतिदिन एक दूसरे के सामने खड़े होकर

बहुत ऊँची आवाज में बातें करते हुये पायेंगे। उनकी बातचीत का विषय भी प्रतिदिन क्या होता है? कभी वे जूतों के बारे में बातें कर रहे होते हैं, कभी कपड़ों के बारे में और कभी दवाइयों के बारे में ही। दोनों की पोशाक भी कुछ निराली-सी होती है। अपने चाचा से पाँच-छः कदम की दूरी पर खड़ा होकर बालक सवाल करता चला जाता है और चाचा साहब आवश्यक भाव-भंगी के साथ जवाब देते जाते हैं। इस बातचीत में विज्ञापनीय वस्तु की खूबियाँ, प्रयोग, कीमत और मिलने का पता आदि सभी कुछ श्रोताओं के कर्णगोचर कर दिया जाता है। ऐसा ही एकांकी नाटक है।"

विरोध और बन्धनों में जकड़ी हुई वस्तु उन्मुक्त होकर ही रहती है। यही हाल एकाङ्की का हुआ। उसका विरोध भी हुआ और समर्थन भी। विरोध समर्थन से अधिक प्रबल था, फिर भी एकाङ्की की प्रबल धारा जो १९३८ के बाद प्रवाहित हुई, उसमें उसके विरुद्ध लगाये गये सब आक्षेप, सब असम्भावनाएँ तिनके की तरह बह गईं। और तब से, अब तक उसकी धारा अपनी बाहुओं में अनेक विषय और समस्यायें जकड़े हुये अविश्रान्त गति से समय की धरती को चीरती हुई निरंतर आगे ही बढ़ती जा रही है।

सन् १९४२ के भारतीय आन्दोलन तथा द्वितीय विश्व युद्ध ने देश की जनता को और जागरूक कर दिया। जन-जागरण के साथ-साथ अनेकानेक समस्यायें नाटककार के सामने मुँह फैलाकर खड़ी हो गईं—ऊँच-नीच, किसान-मजदूर, मालिक-मजदूर, विवाह-तलाक, गरीब और महाजन, गांधीवाद-साम्यवाद, समाजवाद-तानाशाही, पराधीनता-स्वतन्त्रता की समस्यायें। इसी प्रकार की और भी अनगिनत समस्याओं पर, चाहे वे राजनीतिक हों, धार्मिक हों, सामाजिक या आर्थिक हों—सब पर नाटककार अपनी लेखनी चला रहा है। उपर्युक्त प्रगतिशील समस्याओं की ओर कलाकारों का ध्यान आकर्षित करने का श्रेय मार्क्स के द्वन्द्वा-

त्मक भौतिकवाद को है, जिसका प्रचार और प्रसार आज रूस और चीन में जोरों से हो रहा है।

वर्तमान युग के कुछ प्रमुख एकाङ्कीकार तथा उनकी कृतियाँ :—

श्री भुवनेश्वर प्रसाद—'कारवाँ' एकाङ्कियों का संग्रह। इसमें छः एकाङ्की हैं : श्यामा, एक वैवाहिक विडम्बना, एक साम्यहीन साम्यवादी शैतान, प्रतिमा का विवाह, रोमांस रोमाञ्च, लाटरी।

डा० रामकुमार वर्मा—'रेशमी टाई' में पाँच एकाङ्की हैं : परीक्षा (१६४० मार्च), रूप की बीमारी (जुलाई १६४०), १८ जुलाई की शाम (१६३७), एक तोला अफीम (जुलाई १६३६), रेशमी टाई (सि० १६३८)।

'चारुमित्रा' में चार एकाङ्की—चारुमित्रा, उत्सर्ग, रजनी की रात, अंधकार।

सप्तकिरण में सात एकाङ्की—राजरानी सीता, औरंगजेब की आखिरी रात, पुरस्कार, कलाकार का सत्य, फेल्ट हैट, छोटी सी बात।

चार और एकाङ्की हैं—आँखों का आकाश, समुद्रगुप्त पराक्रमांक, श्री विक्रमादित्य और ध्रुव तारिका।

सेठ गोविन्ददास—'सप्तरश्मि' में सात एकाङ्की हैं : धोखेबाज, कंगाल नहीं, वह मरा क्यों ?, अधिकार लिप्सा, ईद और होली, मानव-मन, मैत्री।

'पंचभूत' में पाँच एकाङ्की—जालौक और भिखारिणी, चन्द्रापीड़ और चर्मकार, शिवाजी का सच्चा स्वरूप, निर्दोष की रक्षा, कृष्णा कुमारी।

'एकादशी' में ग्यारह एकाङ्की हैं :—सहित या रहित, अट्ठानबे किसे, सच्चा धर्म, बाजीराव की तस्वीर, सच्ची पूजा, प्रायश्चित्त, भय का भूत, अजीबोगरीब, मुलाकात, व्यवहार, बूढ़े की जीभ।

'अष्टदल' में आठ एकाङ्की हैं : निर्माण, सुदामा के तंदुल, यूनो, फाँसी, हंगर स्ट्राइक, विटामिन।

बड़ा पापी कौन—एक बड़ा एकाङ्की है (स्वतन्त्र पुस्तक के रूप में)।

श्री उदयशंकर भट्ट—अभिनव एकाङ्की नाटक में छः एकाङ्कियों का संग्रह है : दुर्गा, नेता, उन्नीस सौ पैंतीस, एक ही कब्र में, वर निर्वाचन, सेठ लाभचंद, स्त्री का हृदय। दूसरा संग्रह—इसमें जवानी, नकली और असली, दस हजार, बड़े आदमी की मृत्यु, विष की पुड़िया, मुन्शी अनोखेलाल, बीमार का इलाज, एकाङ्की संग्रहीत हैं।

आदिम युग में—आदिम युग, प्रथम विवाह, मनु और मानव, कुमार संभव।

श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क'—देवताओं की छाया' में जोंक, देवताओं की छाया में, लक्ष्मी का स्वागत, अधिकार रक्षक, विवाह के दिन, पहेली, आपस का समझौता, पापी, क्रासवर्ड, चरवाहे, चिलमन, खिड़की, चुम्बक, मेमूना, चमत्कार और सूखी डाली।

छठा बेटा और स्वर्ग की झलक स्वतंत्र पुस्तक के रूप में बड़े एकाङ्की हैं।

श्री सद्गुरुशरण अवस्थी—के मुद्रिका, बालिवध, वे दोनों, गृहत्याग एकाकी हैं।

श्री शम्भू दयाल सक्सेना—वल्कल, प्रहरी, आतिथ्य, सोने की मूर्ति।

उग्र जी—अफजल खाँ, उजबक, चार बेचारे, भाई मियाँ, राम करे सो होय।

श्री भगवती चरण वर्मा—राह के काँटे, विडम्बना, पुनर्निर्माण, देश रक्षा के लिये, सब से बड़ा आदमी।

श्री लक्ष्मी नारायण मिश्र—प्रलय के पंख पर, बालू से तेल, धरती के नीचे, मेड़ तोड़ दी, गंगा की लहरें, चकाचौंध, अशोक वन, कौशाम्बी, विदिशा, भविष्य का गर्भ, दशाश्वमेध, एक दिन।

श्री विष्णु प्रभाकर—संस्कार और भावना।

श्री जगदीशचन्द्र माथुर—रीढ़ की हड्डी।

श्री शिवकुमार ओझा—देव दर्शन (गांधी जी के जीवन सम्बन्धी छः एकांकी)—देव दर्शन, अग्नि परीक्षा, पुण्य स्मृति, बा की बीमारी, धर्म संकट, बैरिस्टर का स्वागत।

श्री हरिकृष्ण प्रेमी—मान-मंदिर।

योरोप में एकाङ्की और उसका हिंदी पर प्रभाव

इंग्लिस्तान में सामन्तकालीन युग में, ५०-६० वर्ष पहले बड़े-बड़े नाटक रंगमंच पर दिखाये जाते थे जो बुर्जुआ समाज के अलस-क्षणों में मनोरंजकता लाते थे। कुछ दर्शक तो थियेटर में निश्चित समय पर ही आ जाते थे और कुछ, जो विशेष आराम तलब और मोटी थैली वाले थे, रात में देर से खाना खाते थे और बिना उनके नाटक प्रारम्भ नहीं हो सकता था। अतः उन बड़े लोगों के आगमन के पहले थियेटर हाल में उपस्थित दर्शकों का दिल बहलाने और उन्हें रोक रखने के लिये (कर-टेन रेजर) पट-उन्नायक का आविष्कार किया गया।

यह पट उन्नायक एक साधारण कोटि का एकाकी ही होता था जो दर्शकों को प्रेक्षागृह में फँसाये रखने के लिये ही खेला जाता था। इसमें न जीवन का आदर्श था, न यथार्थता और न किसी मनोवैज्ञानिक तत्वों का ही विश्लेषण होता था। इसमें नाटकीय संघर्ष और चरमसीमा वगैरह का अभाव था, फिर भी मन बहलाने का सामान उसमें काफी रहता था। इसी प्रकार पेरिस के ग्रैन्ड गिगनोल (Grand Gingnol) थियेटर में रात में कई एकांकी एक साथ खेले जाते थे। कालान्तर में इन पट-उन्नायकों से नाटक के प्रबन्धकों को पर्याप्त सहायता मिलने लगी। आगे चलकर पट-उन्नायकों में भी जीवन की यथार्थता और कला का सम्मिश्रण हुआ। परिणामस्वरूप कभी-कभी एकांकी मूल नाटक से भी

अधिक रोचक और आकर्षक बन जाते थे। प्रबन्धकों की आँखें तब खुलीं जब कई बार दर्शक इन पट उन्नायकों को ही देखकर चले गये।

मूल नाटकों की इस महान् अवहेलना में ही पट-उन्नायकों का उज्ज्वल भविष्य छिपा था। सन् १६०३ में वेस्ट एन्ड थियेटर में डब्ल्यू० डब्ल्यू० जेकब्स की "बन्दर का पंजा" (Monkey's Paw) नामक एक लघु-कथा को लुई एन० पार्कर्स ने पट-उन्नायक के रूप में दिखलाया। कहानी इतनी यथार्थ और आकर्षक बन पड़ी कि इसे देखने के उपरान्त मुख्य नाटक को देखे बिना ही दर्शक घर चले गये। इस घटना से भयभीत होकर नाटक घर के प्रबन्धकों ने पट-उन्नायकों का प्रदर्शन बंद कर दिया।

बड़े नाटकों के बीच से इन पट-उन्नायकों का निष्कासन ही एकांकी का जन्म दिन मानना चाहिये। उसी समय से एकांकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता कायम करने का प्रयत्न करने लगा। इंगलैन्ड की व्यवसायी नाटक कम्पनियाँ, जो नाटक को मनोरंजक बनाने के लिये अश्लील और कुरुचि-पूर्ण दृश्यों को दिखाने में नहीं हिचकती थीं, उनके हाथों से निकालने के लिये विद्वानों ने 'रेपरटरी' आन्दोलन प्रारम्भ किया। फलस्वरूप 'रेपरटरी' थियेटर की स्थापना हुई। इसी प्रकार अमेरिका में 'लिटिल थियेटर' ने एकांकियों के विकास में पूरा योग दिया। १८, १६ वर्ष पहले स्काटिश कम्युनिटी ड्रामा एसोशियेशन तथा ब्रिटिश ड्रामा लीग ने एकांकियों की प्रदर्शनी का आयोजन कराया जिसमें लगभग सात सौ सोसाइटियों ने एकांकी के प्रदर्शन में भाग लिया था।

तत्पश्चात् एकाङ्कियों का प्रचार और प्रसार इंगलैन्ड और अमेरिका इत्यादि योरोपीय देशों में जोरों से होने लगा। इब्सन, बर्नार्ड शा, गाल्सवर्दी, जान ड्रिंकवाटर, रिचर्ड ह्यूस, लार्ड डनसानी, हाल वर्दी हॉल और मिडिल मास इत्यादि एकांकीकारों का प्रभाव बँगला से होता हुआ प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से हिन्दी पर भी पड़ा।

बहुत से एकाङ्कीकारों ने पश्चिमी टेकनीक को ज्यों का त्यों अपना लिया और बहुतों ने पूर्व और पश्चिम का सम्मिश्रण करके एक तीसरा ही रूप दिया। कुछ भी हो, आज बहुत कम ऐसे लेखक हैं जो पश्चिमी टेकनीक से न प्रभावित हुए हों। इस प्रकार निष्पक्ष रूप से देखने पर पता चलता है कि हिन्दी एकाङ्की के विकास और परिवर्द्धन में इंगलैन्ड और रूस का बड़ा भारी हाथ रहा है। आजकल रूस और चीन का प्रभाव इंगलैन्ड के प्रभाव को धुंधला बनाता जा रहा है; किन्तु टेकनीक तो करीब-करीब दोनों देशों का एक-सा है—केवल वर्ण्य विषय में अंतर अवश्य हो गया है।

सहायक ग्रन्थों की सूची

१. साहित्यालोचन—बाबू श्यामसुन्दरदास

२. हिन्दी नाट्य साहित्य का इतिहास—डा० सोमनाथ

३. हिन्दी नाट्य साहित्य—श्री व्रजरत्नदास

४. रूपक-विकास—श्री उपाध्याय वेदमित्र 'व्रती'

५. काव्य के रूप—श्री गुलाबराय

६. वाङ्मय विमर्श—प्रो० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

७. आधुनिक साहित्य—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

८. दृष्टिकोण—प्रो० विनयमोहन शर्मा

९. आधुनिक हिन्दी नाटक—डा० नगेन्द्र

१०. हिन्दी एकांकी—डा० सत्येन्द्र

११. प्रगतिवाद एक समीक्षा—श्री धर्मवीर भारती

१२. प्रगतिवाद—श्री शिवदान सिंह चौहान

१३. हिन्दी साहित्य में संयुक्त मोर्चा—श्री अमृतराय

१४. The craftsmanship of the one act play } Percival Wilde

१५. The Foundation of Aesthetics by I. A. Richards

१६. One act play of to day—Edited by R. Grey

१७. हिन्दी के प्रतिनिधि एकांकी लेखकों की सम्पूर्ण कृतियाँ

१८. प्रतीक, कल्पना, नई चेतना, हंस इत्यादि मासिक पत्रिकायें

उपर्युक्त विद्वानों का हृदय से आभार प्रदर्शन करता हूँ जिनकी कृतियों से मैंने जाने या अनजाने में सहायता ली है।